नवीन श्रृंखला NewSeries ISSN 2320 - 5865
वर्ष–2015 Year- 2015
अंक–03 Vol.- 03

संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका

Bulletin of Museums & Archaeology in U.P.

सम्पादक

डॉ. ए. के. पाण्डेय
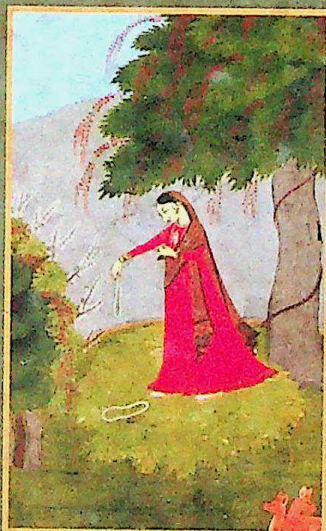
Editor

Dr. A. K. Pandey

राज्य संग्रहालय, लखनऊ

State Museum, Lucknow

सम्पादकीय

राज्य संग्रहालय, लखनऊ की संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका नवीन शृंखला वर्ष 2015 का अंक–3 प्रकाशित किया जा रहा है। इस पत्रिका को दो खण्डों में विभक्त किया गया है। पहले खण्ड में भारतीय चित्रकला के विभिन्न आयाम एवं उनसे सम्बन्धित शैलियों पर सारगर्भित लेख प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। इस खण्ड में देश–विदेश के कला संग्रहालयों में संकलित और प्रदर्शित लघु चित्रों से सम्बन्धित लेख संग्रहीत हैं, जिससे भारतीय लघु चित्रकला की विशिष्ट जानकारियां प्राप्त होती हैं।

संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका का दूसरा खण्ड पुरातत्व, शिल्प, कला और भारतीय मुद्राओं पर एकाग्र है। इसमें नवीन तथ्यों को समाविष्ट करते हुए लेखकों ने महत्वपूर्ण सामग्रियों पर प्रकाश डाला है, जिससे यह अंक संग्रहणीय है।

हमें हर्ष है कि संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका निरन्तर नये–नये तथ्यों पर समावेश करते हुए और भी महत्वपूर्ण बन रही है। इससे जिज्ञासु पाठक, शोध छात्र और कला रसिक लाभान्वित भी होंगे। मैं सभी विद्वानों को साधुवाद देता हूँ कि उनके अथक परिश्रम और साधना से हमारी पत्रिका को निरन्तर नये आयाम मिल रहे हैं।

07 मार्च, 2016
महाशिवरात्रि

सम्पादक
डॉ. अजय कुमार पाण्डेय
निदेशक
राज्य संग्रहालय, लखनऊ

अनुक्रमणिका
CONTENTS

खण्ड–दो

मालवा लघुचित्र-शैली का कलात्मक सौन्दर्य-एक अध्ययन

डा. शुकदेव श्रोत्रिय

मेरे विचार से किसी क्षेत्र की संस्कृति के पाँच तत्व होते हैं– इतिहास, धर्म, साहित्य, कला एवं लोक परम्परा। इनमें सभी तत्त्व एक–दूसरे के पूरक होते हैं। संस्कृति का स्वरूप स्थिर नहीं होता, वह प्रवाहमान रहती है, परिवर्तनशील होती है। संस्कृति के दो तत्त्वों–साहित्य तथा कला में सर्जनात्मकता होती है, जिनमें समय–समय पर विदेशी तत्त्वों का समावेश होता रहता है, जिससे उनमें दृष्टिगत एवं वैचारिक परिवर्तन आते रहते हैं। इस प्रकार संस्कृति के स्वरूप में बदलाव आता दिखायी देता है। भारतीय कला में ऐसे बदलावों के बाद भी उसकी मूल चेतना भारतीय ही बनी रही। भारतीय चित्रकला में समय–समय पर ऐसे परिवर्तन आए, जिनके कारकों में एक ओर लोकजीवन की सर्जनात्मकता थी तथा दूसरी ओर अभारतीय तत्त्व भी थे। इस सम्मिश्रण में चित्रकला के नये रूप स्थापित हुए। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में एक ऐसा सांस्कृतिक परिवर्तन आया, जिसमें भारतीय परम्परा तथा फारसी संस्कृति के तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ, जिसने भारतीय चित्रकला, संगीत, साहित्य तथा स्थापत्य को विभिन्न आयामों में प्रभावित किया।

किन्तु इससे पहले भारतीय चित्रकला के इतिहास में सबसे तीखा मोड़ उस समय आ चुका था, जब विशाल भित्तियों की परम्परा धीरे–धीरे लुप्त होने लगी। समय ने करवट ली और पश्चिमी भारतीय चित्रशैली के रूप में कला के नये अंकुर फूटे। इस परिवर्तन में परम्परा की छाप इतनी कम थी तथा मौलिकता की नयी दिशा की गति इतनी वेगवान थी कि चित्रकला के उस नये रूप में स्थापित नये गुणों को सहज स्वीकारा नहीं जा सका। वर्षों बाद मालवा, प्रारम्भिक राजस्थानी (मेवाड़) शैली तथा आज तक लोकजीवन में प्रचलन में आने वाले राजस्थानी पटचित्रों की जिस (Primitive Vigour) को, अन्तराल संयोजन की नयी रीतियों तथा रंग की प्रबलता को सराहा गया, उनको पश्चिमीं भारतीय चित्रशैली में उपेक्षित रखा गया। आदिम गुणों से परिपूर्ण पश्चिमी भारतीय चित्रशैली में विवरणात्मकता के स्थान पर संक्षेपीकरण था। अन्तराल में रूप संयोजन की नयी–नयी व्यवस्थाएँ थीं तथा सीमित रंगों का आवेशपूर्ण प्रयोग था। जिस शैली को अपभ्रंश कहकर निम्न स्तर का माना गया, उससे भारतवर्ष की लघुचित्र शैलियाँ शताब्दियों तक प्रभावित रहीं।

मेरा विचार है कि मालवा, मेवाड़ तथा चौरपंचाशिका समूह के चित्रों में जिस शैली के गुणों का विकास हुआ, वह नागर शैली का अपभ्रंश नहीं थी। मालवा तथा मेवाड़ शैली के रंगों की प्रबलता तथा संक्षेपीकरण ने केवल बसोहली ही नहीं, आधुनिक चित्रकारों तक को प्रभावित किया। जगदीश स्वामीनाथन, अर्पणा कौर, रजा, हेब्बार, कुलकर्णी तथा श्याचक्ष बावड़ा जैसे कई भारतीय चित्रकारों की रंगयोजना में ऐसे वर्ण संयोजन दिखायी देते हैं। मालवा का क्षेत्र कलात्मक परम्पराओं का धनी रहा है। भारतीय लघुचित्र शैलियों के पहले कालखण्ड की जिस चित्रशैली का विस्तार लगभग सारे

'चित्रायन' आदर्श कालोनी, मुजफ्फर नगर– 251001 (उ.प्र.) मो.नं. 9897138873

देश में हुआ, उस शैली में मांडू तथा जौनपुर में कल्पसूत्र की पांडुलिपियाँ चित्रित हुई। 1439 ई. में चित्रित मांडू के कल्पसूत्र की कलात्मक श्रेष्ठता की सभी विद्वानों ने भूमि–भूरि प्रशंसा की है।

मालवा चित्रशैली का विकास उस समय हुआ, जब देश में साहित्य तथा भक्ति की एक नयी लहर आयी हुई थी। मलिक मोहम्मद जायसी कृत पद्मावत के बारहमासा, तुलसीदास कृत रामचरितमानस, कृष्णभक्ति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भागवत, जयदेव कृत गीतगोविन्द और आगे केशवदास की रसिक प्रिया तथा बिहारी की सतसई आदि में चित्रकारों को भक्ति, प्रेम, श्रृंगार जैसी अनुरागी मानवीय प्रवृत्तियों को चित्रित करने की भाव भरी विषयवस्तु मिली। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतीय संस्कृति में आए इस जागरण के साथ एक ऐसा मोड़ आया था, जिसमें भारतीयता के साथ फारसी सभ्यता का सम्मिश्रण हुआ, जिसका धर्म साहित्य तथा विशेष रूप से चित्रकला पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्रो. आनन्द कृष्ण ने यह मत व्यक्त किया है कि इस क्रास फर्टिलाइजेशन से उपजी कला में भारतीय संस्कृति के प्रभाव से फारसी तत्त्व धीरे–धीरे कम होते–होते पृष्ठभूमि में चले गये तथा प्रारम्भिक सोलहवीं शताब्दी में इस मिश्रित शैली का स्थान राजस्थानी शैली ने ग्रहण कर लिया। किन्तु उन्होंने यह विचार भी व्यक्त किया है कि राजस्थानी शैली की उपशैली मालवा के तत्त्वों का उद्गम न तो अपभ्रंश में खोजा जा सकता है और न ही मुगल शैली में, उसका मूल केवल सल्तनत काल के दरबारी चित्रों में है। (राय आनन्द कृष्ण, मालवा पेंटिंग, पृ.सं. 7)। उन्होंने पुनः इसी पुस्तक के पृष्ठ सं. 10 पर अपने मत को दोहराते हुए लिखा है कि सत्रहवीं शताब्दी की मालवा शैली की जड़ों को सल्तनत काल में खोजा जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में मेरा दृष्टिकोण है कि यद्यपि सल्तनत काल का प्रभाव मालवा शैली पर परम्परागत प्रवाह में रहा, किन्तु दूसरी कल्पसूत्र के तथा अन्य उस शैली के चित्रण की जो परम्परा थी, उसके प्रभाव को एकदम खारिज नहीं किया जाना चाहिए। चित्र के अन्तराल विभाजन तथा रंग योजना में मालवा शैली अधिकांशतः पश्चिमी–भारतीय चित्र शैली से प्रभावित दिखायी देती है। मालवा शैली के विशेष करके रामायण के चित्रित पृष्ठों में वृक्षों का अंकन तथा वृक्षों के तनों द्वारा अन्तराल विभाजन की समानता बहुत से पश्चिमी भारतीय चित्रशैली के वृक्षों के अंकन में देखी जा सकती है। बालगोपाल स्तुति 1450–1475 ई. राष्ट्रीय संग्रहालय के चित्र इसका एक उदाहरण है। इस सन्दर्भ में प्रो. आनन्द कृष्ण ने प्रमोद चन्द का मत उद्धृत किया है, जिन्होंने मांडू चित्रकला का सम्बन्ध कल्पसूत्र परम्परा से जोड़ा है।

कल्पसूत्र तथा उसकी शैली की अन्य चित्रित पांडुलिपियों का मालवा के चित्रकारों पर गहरा प्रभाव दिखायी देता है। उन्होंने ऊर्ध्व तथा क्षैतिज रेखाओं में अन्तराल को विभाजित करके बने आयत, वर्ग तथा त्रिभुजाकार रूपाकृतियों को गूँथकर संयोजनों को अधिक आकर्षक बनाया। मालवा के चित्रों में विषयवस्तु को विस्तार मिला। चित्रकारों ने मानवीय मुद्राओं को गतिशील बनाया तथा नयी भंगिमाएँ प्रदान कीं। समूहीकरण को तरलता दी। प्रकृति को चित्रों में स्थान ही नहीं दिया, अपितु उनको मानवीय संवेदनाओं के साथ जोड़कर उन्हें चित्र का चैतन्य अन्तराल बना दिया। चित्र संयोजनों में स्थापत्य की प्रमुख भूमिका दिखायी देती है। स्थापत्य के ऊर्ध्व, क्षैतिज तथा कोणीय प्रभाव से चित्र में प्रभाविता की दिशा तथा सन्तुलन की व्यवस्था की गयी है। शिखरों, बुर्जियों, लिंटल

तथा भित्तियों, चबूतरों आदि की रूपाकृतियों से अन्तराल विभाजन, तानीय परिवर्तन से विविधता, एकता तथा आकर्षण प्रदान किया गया है। कारण अनेक हो सकते हैं, किन्तु यह मेरा दृष्टिकोण है कि भले ही मालवा शैली आगे राजस्थानी चित्रशैली जैसे विभिन्न महत्त्वपूर्ण केन्द्रों पर अधिक फली–फूली नहीं, किन्तु सत्रहवीं शताब्दी में वह अपनी कलात्मक ऊँचाइयों पर पहुँची हुई थी।

मालवा लघु चित्रशैली में रंगों का प्रयोग सर्जनात्मकता था। रंगों को लगाने का विधान मुगल शैली जैसा अनुशासित तथा अभिजात्यपूर्ण नहीं था। इनमें प्रयोगधर्मिता थी। सीमित रंगों के सपाट अन्तराल के क्षेत्रों का संयोजन था। शरमन ली ने लिखा है कि मालवा के चित्रों में सज्जारूपों में फारसी प्रभाव है, किन्तु वर्णविधान तथा रूपाकृतियों का प्रस्तुतीकरण स्पष्ट रूप से पश्चिमी भारतीय चित्रित पांडुलिपि परम्परा से लिया गया है। मालवा शैली में उन्हीं सीमित रंगों का प्रयोग है। नीले, लाल, हरे तथा पीले रंगों तथा श्याम–श्वेत का जो प्रयोग इस शैली में किया गया है, वह प्रबल, चुनौतीपूर्ण, सहज तथा साहसिक कदम था। वास्तव में मालवा चित्रशैली व्यापक रूप से गर्म और शीतल रंगों के प्रबल विरोध का सन्तुलन है। प्रायः शीतल और स्याह की ओर बढ़ते हुए नीले रंग को लाल रंग के क्षेत्रों से सन्तुलित किया गया है। इन दोनों रंगतों की प्रमुखता के साथ उदासीन कोमल हरे तथा पीले को भी वर्ण वैविध्य के लिए प्रयुक्त किया है। श्वेतता को भी वर्ण संयोजन में स्थान दिया गया है। रंगों के क्षेत्रों का अनुपात तथा सन्तुलन चित्र को एकता के सूत्र में बाँधता है। सभी रंग एक ओर संयोजन को व्यवस्था देते हैं, दूसरी ओर विषयवस्तु के भावों को उत्कर्ष करते हैं।

मालवा शैली के कुछ लघु चित्रों का संयोजनात्मक विश्लेषण

मरणासन्न जटायु, रामायण
मालवा 1633 ई.

यह चित्रसंयोजन–क्षमता का अद्भुत उदाहरण है। लहरों का आलोडन, जटायु की पीड़ा और व्याकुलता में संवेदनशील प्रतीत होता है। वृक्ष स्थिर हैं, मानो राम तथा लक्ष्मण की मुद्रा के साथ एकाकार होकर हतप्रभ हो गये हों। लताओं में भी जटायु के शरीर की रेखाओं के समान बेचैनी है। पूरा चित्र दो स्पष्ट भागों में बँटा हुआ है। राम तथा लक्ष्मण की आँखें तथा जटायु की आँख ठीक एक सरल रेखा में है, जो मूक संवाद की भाषा बन जाती है।

स्वर्ण मृग मारीच, रामायण
मालवा 1630 ई.

प्रस्तुत चित्र में द्वार से स्वर्ण मृग की ओर इंगित करती हुई सीता, मृग की ओर जाते हुए धनुर्धारी राम तथा लक्ष्मण और घने वृक्षों के बीच मृग के वेश में मारीच है। पीली पृष्ठभूमि में हरिण की आकृति चित्र में सर्वाधिक प्रभावी है जो चार आयातों के पीले रंग के बीच में दृष्टि को आकर्षित करती है। हरिण के उठे हुए अगले पाँव उसके गर्व के प्रतीक हैं।

बिलावल रागिनी

मालवा 1630 ई.

चित्र में ऊपर आकाश की तथा अग्रभूमि की क्षैतिज रेखाएँ स्थापत्य की ऊर्ध्वरेखाओं से सन्तुलित हैं। केन्द्रीय भाग में आँख बुर्जियों के सहारे चलकर खड़ी स्थापत्य रेखा से नीचे आती हैं तथा पुनः पैरियों के साथ कोणवत् नीचे जाते हुए अन्तराल का कोणीय विभाजन करती है। गोलाकार दर्पण दृष्टि के आकर्षण का केन्द्र है।

भरत अयोध्या लौटते हुए, रामायण

मालवा, लगभग 1690 ई.

क्षैतिज संयोजन नदी द्वारा दो त्रिभुजों में बँटा हुआ है। बाएँ हाथ के त्रिभुज का आधार क्षैतिज रेखा पर होने के कारण राम के धैर्यवान चरित्र को प्रदर्शित करता है तथा एक कोण पर टिके सीधे हाथ के त्रिभुज में भरत व्याकुल हैं। उनके मन में पश्चाताप है। उनकी व रथ की रेखाएँ कोणीय हैं तथा संयोजन की अन्य रेखाओं से सामंजस्य प्रदर्शित नहीं करतीं। यह ऊहापोह का भाव है।

नवदम्पति राम और सीता का स्वागत, रामायण

मालवा, लगभग 1680 ई.

चित्र का क्षैतिज अन्तराल पहले एक वर्ग तथा एक ऊर्ध्व आयत में विभाजित है। पुनः वर्ग को दो आयतों में तथा आयत को दो वर्गों में विभाजित करके आकृतियों का समूहीकरण किया गया है। ऐसे अन्तराल विभाजन पश्चिमी भारतीय शैली में प्रायः देखे जा सकते हैं।

राम और लक्ष्मण सन्त से वार्तालाप करते हुए

मालवा, लगभग 1635 ई.

यह चित्र संयोजन में समूहीकरण का अद्‌भुत उदाहरण है। नारी आकृतियों का वर्ग, स्थापत्य का ऊर्ध्व आयत, मध्य की तीन आकृतियों का आयत, वृक्षों के साथ बना आयत और हरिण युगल का छोटा आयत एक संयोजन में व्यवस्थित किये गये हैं।

नायक, रसिक प्रिया का एक पृष्ठ

मालवा, 1634 ई.

चित्र में दो रेखाएँ नायक वर का केन्द्रीभूत होती प्रतीत होती हैं। चित्र का दृष्टिगत भाव स्थिरता का है। केवल ऊपरी बायें कोने में आकाश की सफेद पट्‌टी लहरदार गति के साथ चित्र की स्थिरता की समरसता को तोड़ती है।

मधु माधवी रागिनी

मालवा, 1630 ई.

इस चित्र में स्थापत्य की रेखाएँ गति के साथ नायिका पर केन्द्रीभूत होती हैं। पूरा संयोजन छाया प्रकाश के दो स्पष्ट भागों में बँटा हुआ है। भवन के भीतरी भाग का शहरी रंगत का अन्तराल बाहरी काले घने बादलों से सामंजस्य प्रतीत होता है।

डब्ल्यू. जी. आर्चर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सैंट्रल इंडियन पेंटिंग' में डब्ल्यू.जी. आर्चर ने लिखा है–

Such pictures are not only clear derivatives from the great Mandu Style, but foreshado the outburst of Rajasthani painiting in Mewar some decades later. (P.5)

Malwa evoked some of the most vital developments in Indian art.

It was painting of this kind which laid the foundations of Rajput painting in Mewar, the premier state of Rajasthan and produced the virile compositions which exhilarate Indian minds today.

□□

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

सजगता से सुरक्षित रखा जा सकता है इतिहास के साक्षी भित्ति चित्रों को

सुधाकर शर्मा

हाड़ौती (कोटा बूंदी एवं अन्य) के संदर्भ में एक अध्ययन

भारतीय कला सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की सौन्दर्यात्मक, शाश्वत एवं भावपूर्ण अभिव्यक्ति का प्रतिरूप है। अतीत से वर्तमान काल तक युग–युगीन जीवन, धर्म, दर्शन एवं संस्कृति का बोध कला के माध्यम से किया जाता रहा है। कठोर पाषाणों से लेकर सुकोमल धरातलों पर रंगतराशों व रूपदक्षों ने नाना रूपों में इसका सृजन किया है। कला साधकों ने जहाँ एक ओर गहन चिंतन एवं मनन के मंथन से इसकी रचना की वहीं शास्त्रीय नियमों एवं सिद्धांतों से इसे सौन्दर्यपरक बनाया है। कला आचार्यों ने दीर्घकालीन अध्ययन से इसे उच्च पद पर आसीन किया। युगों–युगों से कला संरक्षकों ने कला को आश्रय प्रदान किया, वहीं कला साधकों ने दीर्घकाल तक अनवरत साधना कर कला के चित्रोपम सौन्दर्य को दिव्य स्वरूप प्रदान किया।

भारत वर्ष में कला नाना रूपों में विकसित हुई किंतु चित्रकला का अपना एक अलग विशिष्ट स्थान है। चित्रकला की अनेक विधाओं में भित्ति चित्रण अतिविशिष्ट माना जाता है। इस कला के प्रमाण ईसा पूर्व पहली दूसरी शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक पाये गए हैं। लगभग दो हजार वर्षों तक भारत वर्ष में भित्ति चित्रों का निर्माण जारी रहा। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व कलात्मक दृष्टि से इनका अत्यंत ही महत्व है। तत्कालीन जन जीवन को जानने के यह अत्यंत ही महत्वपूर्ण साधन हैं। भारत वर्ष में इनके प्रारंभिक एवं श्रेष्ठ उदाहरण जोगीमारा, अजन्ता बाघ, सिन्तनवासल, सिगिरिया, बादामी आदि कला मंडपों में अवस्थित है। मध्यकाल में इस कार्य की गति कुछ मंद हो गई किंतु न्यून रूप में कार्य जारी रहा।

भित्ति चित्रों के निर्माण में 16वीं शताब्दी से पुनः एक वैभवशाली युग प्रारंभ हुआ और लगभग बीसवीं शताब्दी तक अनवरत यह कला कार्य जारी रहा। इस काल को कला, धर्म, दर्शन काव्य व साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतवर्ष के राजपूताना अर्थात् राजस्थान प्रांत में इसी काल में प्रायः सभी कलाओं की अपूर्व उन्नति हुई। 15वीं सदी की अपभ्रंश शैली में पाल शैली के लघुचित्रकला के विकास के लक्षण दिखाई देते हैं व 16वीं सदी की आरंभिक राजस्थान कला शैली में व विकसित अपभ्रंश शैली में काफी समानता नजर आती है। हालांकि यह पोथी चित्रों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी क्रम में भित्ति चित्रों के निर्माण की परंपरा नवीन रूप लेकर बहु प्रचलित हुई। परिवर्तन की व्यापक लहर ने राजस्थान के सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक व कलात्मक रूप को बदल कर रख दिया। जन भावनाओं का आदर करते यहाँ के कला प्रेमी शासकों ने कलाओं के विकास पर विशेष बल दिया। यहाँ की लगभग सभी छोटी बड़ी रियासतों ठिकानों आदि में चित्रकला को

संरक्षण सहायक, राष्ट्रीय संग्रहालय, जनपथ नई दिल्ली।

विशेष महत्व प्राप्त हुआ। यहाँ के कला प्रेमी शासकों ने कार्य कुशलता में प्रवीण चितेरों व कारीगरों को आश्रय प्रदान कर अपने राजप्रसादों, हवेलियों, देवालयों आदि में विभिन्न विषयों पर भित्ति चित्रों को बनवाया और भित्ति चित्रण की प्रचलित युग–युगीनविधा वैभव, सौन्दर्य, धर्म, दर्शन आदि के धरातल पर अवस्थित कर एक नवीन इतिहास रचा।

भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक आधार पर राजस्थान को कलागत दृष्टि से चार प्रमुख क्षेत्रों में बांटा गया। मेवाड़, मारवाड़ ढूढाह व हाडौती भू–भाग पर मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। जहां राजस्थान में भित्ति चित्रण मुख्य रूप से जयपुर, आमेर, उनियारा, शेखावटी की हवेलियों में प्रचलित हुआ वहीं हाडौती के बून्दी, कोटा व झालावाड रियासतों में भित्ति चित्रों का बहुतायत से निर्माण हुआ। यहाँ बने भित्ति चित्र संपूर्ण भारतीय लघुचित्रों एवं भित्ति चित्रों के क्रम में अपना अति विशिष्ट स्थान रखते हैं। उपर्युक्त स्थानों पर भित्ति चित्रों का निर्माण सर्वप्रथम बून्दी रियासत में प्रारंभ हुआ। यहां पर बने भित्ति चित्रों फूल महल, बादल महल, छत्र महल एवं रंगमहल (चित्रशाला) में अवस्थित है। इन चित्रों में राव भोज के समय से लेकर महाराव विष्णु सिंह के समय तक की संपूर्ण गतिविधियों के दर्शन होते हैं। बून्दी रियासत के दो अन्य प्रमुख ठिकानों दुगारी तथा इन्द्रगढ़ से भी भित्ति चित्रों का निर्माण तत्कालीन ठिकानेदारों द्वारा करवाया गया जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बून्दी नगर में अनेक हवेलियों व देवालयों में उपर्युक्त प्रचलित परम्परानुसार भित्तियों को चित्रों से सुशोभित करवाया गया था। उपर्युक्त चित्रों का दर्शन एवं अध्ययन करने देश विदेश के ना जाने कितने कला मर्मज्ञ, शोधार्थी व इतिहासकार आते हैं। बून्दी के तत्कालीन इतिहास को जानने के ये चित्र सर्वाधिक एवं संस्कृति के प्रहरीजनों की उपेक्षा एवं संरक्षण के अभाव में बून्दी के उपर्युक्त सभी स्थानों व भवनों में बने चित्र अपनी व्यथा पर अश्रु बहा रहे हैं। इनमें बने कई अतिविशिष्ट चित्र जो पूर्णतया काल कल्वित हो चुके हैं। शेष अवशेष जो कुछ भी हैं वे नष्ट होने के कगार पर खड़े हैं। इतिहास एवं तत्कालीन जनजीवन को जानने वाले यह महत्वपूर्ण स्रोत स्थानीय संरक्षकों, प्रशासन के लिए शायद महत्वपूर्ण नहीं हैं जो वर्षों से सिंचित इस कला निधि के प्रति मौन साधे बैठे हैं। कतिपय सरकारी सहयोग व रखरखाव तथा सुरक्षा उपायों को प्रचारित करना एक अलग बात है और इनके प्रति आत्मिक एवं सजग दृष्टिकोण रखते हुए व्यवस्था देना दूसरी बात है। बून्दी रियासत के दुगारी व इन्द्रगढ़ महलों में बने भित्ति चित्रों का मार्मिक रूदन केवल चमगादडें ही सुनती हैं अथवा कुछ आवारा हाथ व कला विरोधी तत्व दिन के उजाले में इन वैभवशाली चित्रों पर नश्तर चलाते हैं। यदा–कदा कुछ शोधकर्त्ता, विदेशी मेहमान यहाँ आकार इन चित्रों का हाल देखते हैं किन्तु चुप्पी साधे चले जाते हैं।

कोटा रियासत में जहां कला प्रेमी शासकों ने भित्ति चित्रण को अपने वैभव का प्रतीक मानकर इन्हें बनवाने का अनुकरणीय कार्य किया वहीं इसी रियासत के कुछ प्रमुख कला प्रेमी पदाधिकारियों ने भी इस हेतु अपनी महती भूमिका निभाई इसी क्रम में उल्लेखनीय कार्य किया कोटा रियासत के फौजदार, दीवान, झाला जालिमसिंह व राज ज्योतिषी देवता जी ने। झाला जालिम सिंह का कोटा रियासत में अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तित्व रहा। ये अत्यन्त कला प्रेमी

प्रशासक थे। इन्होंने कोटा गढ़ के दक्षिण पश्चिम में चम्बल नदी के किनारे एक भव्य हवेली का निर्माण करवाया। महाराव उम्मेद सिंह प्रथम के समय में निर्मित झाला हवेली के विभिन्न कक्षों, तिबारियों, आलियों, छतों व झरोखों आदि में भव्य व नयनाभिराम का निर्माण हुआ। इन चित्रों का निर्माण मेवाड़ से कोटा आदि में आश्रय प्राप्त चितेरों व स्थानीय चितेरों के सहयोग से हुआ। कोटा चित्रशैली के अंतर्गत इन चित्रों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास, संस्कृति एवं कला मर्मज्ञों व इतिहासकारों के लिए यह चित्र महत्वपूर्ण स्रोत थे किन्तु असुरक्षा के कारण व असामाजिक तत्वों द्वारा इनको क्षतिग्रस्त कर दिया गया।

कोटा महल के पश्चिम में झालाहवेली में 1978 में किए गए बारूदी विस्फोट के कारण यहां उपलब्ध कला एवं भित्ति चित्रण सामग्री की अपूर्ण क्षति हुई जिसके कारण भित्तियों छतो, आलियों आदि पर सुशोभित चित्रों का सौन्दर्य पूर्ण संसार काल की गर्त में समा गया। साथ ही स्थापत्य कला की बेजोड़ कारीगरी का नमूना भी विस्फोट से जीर्ण शीर्ण हो गया। यदि इतिहास की इस अमूल्य धरोहर की सुरक्षा एवं रख–रखाव उचित ढंग से किया जाता तो आज कोटा चित्र शैली में बने ये भित्ति चित्र कला मर्मज्ञों को आल्हादित करते रहते।

झाला हवेली के भित्ति चित्रों के शेष अवशेषों में से कुछ चित्रों के माध्यम से ही अब यहाँ के कला वैभव को जाना जा सकता है। विध्वंस के पश्चात् यहाँ बचे शेष चित्रों को स्थानीय संरक्षकों के सुझाव से सुरक्षित निकलवा कर राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली भेजा गया। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के कला संरक्षण एवं पुर्नरक्षण विभाग के एक दल द्वारा वर्ष 1984–85 में यहां बनी भित्तियों पर से शेष बचे कुछ महत्वपूर्ण चित्रों को भित्ति से एक वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा पूर्णतया मूल अवस्था में निकालकर राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली पहुंचा दिया गया। यहाँ से सुरक्षित निकाले गए चित्र संरक्षकों एवं स्थानीय कला प्रेमी जनों की सजगता का ही परिणाम है। यदि समय पर सजग प्रयास नहीं किये गए होते तो कोटा कलम के स्वर्णिम पृष्ठों को लिखने वाले ये महत्वपूर्ण चित्र भी काल कल्वित हो चुके होते। यहां से निकाले गए महत्वपूर्ण चित्रों में कोटा में प्रचलित विषय आखेट का चित्र एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण चित्र है। जो तत्कालीन समय की आखेटीय रणनीति शौर्य एवं राजसी वैभव को दर्शाता है। इसके अतिरिक्त अन्य पुर्नरक्षित चित्रों में रागिनी विषय, नायिका विषय व धार्मिक विषयों से संबंधित चित्र भी कोटा कलम के मौलिक एवं समन्वित कला विश्लेषण जिसमें कोटा शैली पर मुगल एवं दक्खिनी शैलियों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। कोटा शैली में पूर्वानुसार आकृतियों में छोटे एवं बौनेपन को अब विस्तृत लंबाई एवं अनुपात में रख कर अन्य प्राकृतिक सौन्दर्य को उच्च स्तर की कलम के प्रभाव से सजाया गया है। यह कोटा की शैली में उत्तरोत्तर मुगलीय एवं बाह्य प्रभाव का सटीक उदाहरण है।

इस प्रकार कला मर्मज्ञों, सजग कला प्रेमी जनों एवं सरक्षकों की सूझबूझ एवं सजगता से झाला हवेली एवं कोटा चित्र शैली की श्रेष्ठतम धरोहर को नव जीवन प्राप्त हुआ। वर्तमान समय में राजस्थान में कई स्थानों पर छोटी बड़ी हवेलियों से लेकर विशाल राजप्रासादों में भित्ति चित्रण अपनी अंतिम सांसे गिन रहे हैं। कोटा नगर में भी बड़े देवता जी की हवेली, अर्जुनमहल बड़ा

महल, छत्रमहल, राजमहल, लक्ष्मीभंडार, कंवरपदा आदि भवनों की भित्तियों पर बने चित्र मंद एवं तीव्र गति से अपने अंत की ओर बढ़ रहे हैं। निजी एवं सरकारी संरक्षकों को आपसी तालमेल, असहयोग की भावना का तो इसमें योगदान है ही वातावरणीय दुष्प्रभावों, उचित रखरखाव के अभाव में इनके ऊपर पड़ने वाली काल की छाया और गहरी होती जा रही है वो दिन भी अब दूर नहीं जब ये दुर्लभ चित्र दुगारी, इन्दगढ़ बून्दी के कई भित्ति चित्रों व झाला हवेली के चित्रों के समान काल कल्वित हो जाएंगे।

यदि संरक्षकों व कला प्रेमी जनों ने अब भी अपनी आंखें नहीं खोलीं तथा इनके प्रति अपनी चेतना को जागृत नहीं किया तो इतिहास को जानने के ये अति महत्वपूर्ण प्रमाण पतनोन्मुख हो जाएंगे। जो कुछ भी क्षति अब तक हो चुकी है। उसे मानवीय भूल समझकर भुलाया जा सकता है किन्तु यदि समय रहते हम इस दुर्लभ कला सामग्री के प्रति सावचेत नहीं हुए तो न सिर्फ ये भित्तियां इतिहास की उन रंगीन परतों को निगल जाएंगी अपितु इतिहास को जानने के ये साधन सदैव के लिए मिट जाएंगे।

कभी–कभी हमारे लिए यह दुविधाजनक स्थिति होती है कि कुछ महत्वपूर्ण कला के ऐतिहासिक साक्ष्य कुछ हवेलियों में भित्ति चित्र के रूप में उपेक्षित हालात में नष्ट होते पाए गए हैं ऐसी विषम स्थिति में यह उचित माना जा सकता है कि वहां से इस प्रकार के भित्ति चित्रणों को उतार कर के ऐसे स्थान पर सुरक्षित रखा जाए जहां पर इनकी देखरेख ठीक से हो सके। हालांकि भित्ति चित्रों को सुरक्षा जहां है जैसी है हालत में देना निश्चित किया जाता है परन्तु परिस्थितिवश एवं आपातकाल में भित्ति चित्रों का स्थानांतरण किया जा सकता है। आमतौर पर अधिकांश निजी संरक्षकों की यह मिथ्याजनक धारणा है कि भित्तियों से चित्रों को सुरक्षित नहीं निकाला जा सकता और न ही इन्हें किसी भी प्रकार के वातावरणीय दुष्प्रभावों से बचाया जा सकता है। यदि यह धारणा सत्य होती तो राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के संरक्षण एवं पुर्नरक्षण विभाग के संग्रह में झाला हवेली के ये महत्वपूर्ण चित्र अपनी मूल अवस्था में सुरक्षित नहीं होते। आज ये चित्र पूर्ण रूपेण सुरक्षित ही नहीं बल्कि आने वाले पांच सौ हजार वर्षों तक ये भित्ति चित्र इसी अवस्था में सुरक्षित रहेंगे।

अतः हमें कला के सजग प्रहरी बनकर ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कला की शेष बची हुई अनमोल धरोहर को उचित संरक्षण व पुर्नरक्षण द्वारा बचाने के गंभीर प्रयास शीघ्र ही प्रारंभ करने होंगे।

तकनीकी पक्ष

भित्ति चित्रों में निम्न प्रकार की खराबियां उत्पन्न होती हैं जिनका मुख्य कारण प्राकृतिक वातावरणीय प्रभाव, जैविक व रासायनिक है। नमी आद्रता, प्रकाश की तीव्रता एवं कमी व स्थापत्य दोष, तकनीकी विभेद, अदक्ष कलाकार व कन्जरवेटरों, मालिकों संरक्षकों की उपेक्षित मानसिकता है।

1. पानी का रिसाव

2. अलग–अलग प्रकार के रंगों, रंगपरतों के अस्तर
3. चूने का स्वयं का समय के साथ डिकम्पोज होना
4. पुरानी रंग पर्तों (चित्रण) पर फिर से नए चित्रण में प्रयुक्त रंग माध्यमों के मध्य रासायनिक क्रियाओं का घटना।
5. विपरीत स्वभाव के रंग–रसायनों का प्रयोग। पपड़ियां बनना इत्यादि।
6. अधिक नमी से काई (फंगस) फफूंदी का उत्पन्न होना व रंगों व माध्यम गोंद इत्यादि को प्रभावित कर रंग व आकृतियों का धूमिल हो जाना।
7. पक्षी, कीट, चमगादड़ जैसे जीवधारियों का निरंतर निवास।
8. मानव उपेक्षा व वेन्डालिजम
9. धन का अभाव व मालिकों एवं संरक्षकों में कला के संरक्षण के प्रति सजगता का अभाव भित्तीय चित्रों के सुरक्षा के संबंध में जो कि मुख्य रूप से निजी मालिकों या निजी स्वामित्व में हैं वस्तुतः इन मालिकों के द्वारा इस विषय में गंभीरता दिखाने की आवश्यकता है। सरकारी तौर पर इस प्रकार भित्ति चित्रण के संरक्षण एवं परिरक्षण में सहयोग के लिए अपील की जा सकती है। निजी मालिकों एवं संरक्षकों द्वारा ऐसे कार्यक्रम किए जा सकते हैं जिसमें इस प्रकार की कलाकृतियों पर एक संगोष्ठी व कार्यशाला का आयोजन दक्ष संस्थाओं व कन्जरवेटरों से मिलकर की जा सकती है। हालांकि वर्तमान में पर्यटन की दृष्टि से कुछ हवेली मालिकों ने इस ओर महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए अपनी जीर्ण क्षीर्ण हवेलियों को होटल में परिवर्तित कर लिया गया है जिससे इन नष्ट होती कलाकृतियों को प्राणदान का आश्वासन मिल गया है। ऐसे ही हालातों में यदि पर्यावरण व पर्यटन की दृष्टि से हम उपेक्षित पड़ी हवेलियों एवं राजप्रासादों तथा मंदिरों को जनता के साथ सीधा–सीधा संपर्क स्थापित कर मनोरंजन से जोड़ दे तो आय के साथ–साथ इनका संरक्षण स्वतः ही हो जाएगा।

उपरोक्त कारणों पर सजगता व समय–समय पर देखरेख व दक्ष कन्जरवेटर की सलाह ली जाए तो आप इन सभी दोषों को नियंत्रित कर के इतिहास के इन बहुमूल्य साक्ष्यों को अगली पीढ़ी को सुरक्षित सौंपे जाने का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं हालांकि चिकित्सा की पद्धति यहाँ पर देना उचित नहीं समझतें हैं क्योंकि हर परिस्थिति में किया गया संरक्षण एवं परिरक्षण कार्य भौगोलिक एवं वातावरणीय प्रभावानुसार अलग–अलग होता है। कुछ कारणों में यह पाया गया है कि कुछ नवयुवक इस प्रकार के अधूरे ज्ञान व संरक्षण व परिरक्षण के नियमों की गहन परिचर्या में सिद्धहस्त ना होने से भित्ति चित्रण जैसी नाजुक सतहों पर रसायन इत्यादि का विपरीत प्रभाव हो सकता है। अतः इस विषय में भी सजगता की आवश्यकता है कि हम उन संस्थानों का चयन करें जो कि कलाकृतियों के संरक्षण व परिरक्षण के महत्वपूर्ण केन्द्र हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली इस विषय में अपनी सेवायें प्रदान करता है।

□□

“संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक”

मध्य भारतीय चित्रकला में "मालवा शैली" की प्रभुसत्ता

डॉ. रघुवीर सिंह भाटी

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मांग्ल्यं प्रथमं चैतदृगृहे यत्र प्रतिष्ठतम्।।

अर्थात् चित्रकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ हैं। यह धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देने वाली हैं। जिस घर में इसकी प्रतिष्ठा की जाती हैं, वहाँ पहले ही मंगल होता हैं।

यथा सुमेरूः प्रवरो नगानां यथाण्डजाना गरूड़ः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिहं चित्रकल्पः।।

अर्थात् जैसे पर्वतों में सुमेरू श्रेष्ठ हैं पक्षियों में गरूड़ प्रधान है और मनुष्यों में राजा उत्तम हैं उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ हैं।

दुर्भाग्यवश हम शताब्दियों तक परतन्त्र बने रहे, द्वेष या विजेताओं के शौर्याभिमान ने हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं की द्योतक सामग्रियों को नष्ट किया, लूट लिया हमारे बहूमूल्य–ग्रन्थों को, गंन्थागारों को आग की भेंट चढ़ा दिया। जानबूझकर, सप्रयत्न हमें गिरी हुई जाति का बताने के लिए हमारी निधियों थातियों को विनष्ट किया। फिर भी शेष सामग्री हमारे विगत की सांस्कृतिक उन्नति, विकास और चर्मोत्कर्ष को दर्शाने के लिए काफी है।

निश्चित ही इस लूट और ध्वंश में चित्रकला सम्बन्धी प्राचीन साहित्य प्राचीन चित्र एवं बहुमूल्य कला के जीवंत आदर्श नष्ट हो गये। जिस गम्भीरता सूक्ष्मता और विविधता के साथ चित्रकला के सम्बन्ध में उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं उन्हें देखकर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि हमारी प्राचीन चित्रकला पर प्रकाश डालने वाली एक या दो यही पुस्तकें रही होंगी। संग्रहालयों व संग्रहों में चित्रांकित पोथियों, चित्रों, मूर्तियों आदि के सहस्त्रादिक उदाहरण मौजूद हैं। अतः लूट के इन प्रमाणों के आधार पर हम निश्चित धारणा रखते हैं कि ललित कला जैसे जन–जन में प्रिय और उपयोगी विषय पर प्रचुर साहित्य रहा होगा। जैसा "चित्र सूत्र" में कहा गया है कि **"अशक्यो विस्तरा द्ववतुं बहुवर्षशतैरपि"** अर्थात् इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहना तो सैकड़ों वर्षों में सम्भव नहीं हैं। यह सत्य हैं कि न जाने कितनी बड़ी निधि हमारे पास रही होगी। यह सब विनष्ट हो गयीं। संस्कृत का लौकिक साहित्य चित्रकला सम्बन्धी विवरणों से भरा पड़ा है।– महाभारत में वाणासुर की पुत्री की सखी चित्रलेखा का वर्णन है जो चित्र–कर्म में दक्ष थी। उसने स्मृति से ही कई राजकुमारों के चित्र अंकित कर दिये। भास के प्रसिद्ध नाटक **"स्वप्न वासवदत्ता"** में वासवदता और वत्सराज उदयन आदि के चित्र का उल्लेख हुआ हैं, जिससे ज्ञात हुआ है कि तत्कालीन समाज में चित्रकला घर–घर में पूजित थी। कालीदास के

वरिष्ठ प्रबन्धक, जैसलमेर फोर्ट पैलेस म्यूजियम एण्ड हैरिटेज सेन्टर, दुर्ग जैसलमेर (राज.)

समय तक चित्रकला समाज का एक अभिन्न अंग बनी हुई थी। अभिज्ञान शकुन्तला के प्रथम अंक में नटी के गीत गा लेने के बाद सूत्रधार कहता है– **''आर्ये! साधु गीतम! अहो रागनिविष्ट चित्रवृत्तिरालिखित इव सर्वतों रंग।''** अर्थात्'' वाह आर्ये। बहुत ही अच्छा गाया। देखो। तुम्हारे राग से लोग ऐसे बेसुध हुए कि रंगशाला चित्रलिखी सी जान पड़ती हैं'

नग्नजित के ''चित्र लक्षण'' में चित्रोपत्ति की मनोरंजक कथा इस प्रकार से हैं :–

भयजीत नाम का बड़ा उदार, धर्मात्मा राजा था। सभी प्रजायें सानन्द थीं। तभी एक दिन एक ब्राह्मण दरबार में आ पहुँचा और चिल्ला कर बोला राजन, आपके राज्य में पाप हैं, नहीं तो मेरा पुत्र अकाल मृत्यु को कैसे प्राप्त हो गया? राजा ने तत्क्षण यमराज से प्रार्थना की हे यम जी महाराज इस बालक को पुनः जीवित करो या मुझ से युद्ध करो। यम युद्ध करने को तत्पर हो गया। दोनों में युद्ध हुआ, घोर युद्ध में यम पराजित हुआ। विधाता ब्रह्मा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। तत्काल वहाँ प्रकट हुए और राजा भयजित से कहा तुम ब्राह्मण पुत्र का चित्र बनाओ।

भयजित ने चित्र बनाया, ब्रह्मा ने उसमें जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित करके कहा– ''यतः तुमने इन नग्नों प्रेतों को जीत लिया अतः आज से तुम नग्नजित नाम से जाने जाओगे। तुमने इस ब्राह्मण पुत्र का चित्र मेरे ही आशीष से बनाया है। संसार में यह प्रथम चित्र है।''

यह प्रथम चित्र आज के अर्थ में नहीं है। पहले चित्र का अर्थ मूर्त्ति शिल्प था अर्थात चित्र का अर्थ था पूर्ण गोलाकार मूर्ति, अर्द्ध चित्र का अर्थ था– भित्ति शिल्प, चित्रभास का अर्थ था– आलेपित भित्ति चित्र। अतः नग्नजित द्वारा निर्मित चित्र अवश्य ही मूर्ति रही होगी।

गुप्तकाल में चित्रकला उच्चशिखर पर पहुंच चुकी थी। गुप्त चित्रों के अति उत्तम उदाहरण अजन्ता और बाघ के गुफा चित्र हैं। अजन्ता की गुफा संख्या 16, 17 और 19 गुप्तकाल की है। गुफा 10 के स्तम्भ, चित्र तथा गुफा नं. 16 व 17 के भीत चित्रों में गुप्तकालीन सौन्दर्य मानदण्डों को अपनाया गया है। गुप्तकाल की एक विशिष्टता यह भी है कि काव्य और चित्रकला परिष्कृत और अमूर्त प्रकार के नायकों, नायिकाओं और उनके अन्तरंग सहचरों के सृजन में परस्पर प्रेरणा ग्रहण करते थे। ये सभी चरित्र मानों किसी परिदेश की पुष्पमालाओं रत्नों और आभूषणों से अलंकृत होते थे। एक ओर साहित्य में चित्रकला के दृश्यों तथा नायक नायिकाओं की प्रतिकृतियों को स्थान दिया गया तो दूसरी ओर चित्रकला में मानवीय गुणों के चित्रण में क्लासिकल काव्य के सौन्दर्य सम्बन्धी मानदण्डों को अपनाया गया तथा पृथ्वी की अल्कापुरी के अशेष प्रेम, सुख और शांति का अंकन किया गया।

जोगीमारा की गुफाएं मध्य प्रदेश में सरगुजा जनपद की रामगढ़ पहाड़ियों में स्थित है। इस गुफा के चित्रों को देखने हेतु पहाड़ी मार्ग पार करके एक ऊँची चोटी तक पहुंचना होता है। रास्ते में एक झरना पड़ता है और एक टूटा फूटा दरवाजा। ऐसे अवशेष रामगढ़ मंदिर तक मिलते हैं। मंदिर से नीचे उतर कर ही हम इन गुफा चित्रों तक पहुंच पाते हैं। गुफा चित्रों तक पहुंचने के लिए एक सुरंग पार करनी पड़ती है इस सुरंग को हाथी पात्र अर्थात् हाथियों द्वारा बनाया हुआ खड्डा कहते हैं।

सुरंग बड़ी अंधेरी और काफी चौड़ी है। सुरंग पार करने के पश्चात् ऊपर चढ़कर अंत में जोगीमारा, सीतावेंगड़ा एवं सीता लांगड़ा नामक गुफाओं तक पहुंचा जा सकता है।

जोगीमारा गुफा प्राकृतिक है। 10 फिट लम्बी 6 फिट चौड़ी इस गुफा की भीत पर बने हुए चित्रों को चौखटों में बनया गया है तथा एक दूसरे को अलग करने के लिए लाल रेखाओं का प्रयोग हुआ है। इन गुफाओं की छतें बहुत नीची हैं इन पर बने हुए चित्रों को सरलता से कोई भी हाथ उठाकर छू सकता है। ऐसा हुआ भी होगा तभी चित्रों की चमक व रंगों में उखड़ाव दिखाई पड़ने लगा है। पुराने चित्रों का निश्चित समय आंकना कठिन है परंतु ऐसा लगता है कि इन चित्रों को पुनः रेखांकित और रंगालेपित करने के निमित ऐसा किया गया होगा। चित्रों में सुधार की जगह विरूपता और कुरूपता उभर आयी।

जोगीमारा गुफाभित्तों पर गहरे अक्षरों के कुछ लेख प्राप्त हुए हैं जिनमें एक नर्तकी और मूर्तिकार की प्रेम कथा का वर्णन किया गया है। डॉ. बिलोच की खोज का वर्णन करते हुए हाल्दार महोदय कहते हैं– डॉ. बिलोच तथा अन्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये अक्षर सम्राट अशोक महान के युग से पूर्व के हैं। डॉ. बिलोच के आधार पर बनाया गया नाट्य गृह था, क्योंकि वहां उन्हें एक शिला पर एक नर्तकी का नाम खुदा हुआ मिला था।

डॉ. बीलोच के मत का समर्थन करना ठीक नहीं होगा नर्तकी का नामांकन इस तथ्य का प्रमाण कैसे हो गया कि वहां नाट्यशाला ही रही होगी? और वह भी ग्रीक शैली के आधार पर। वास्तव में डॉ. बीलोच भारतीय जीवन से अनभिज्ञ रहे हैं वरना वे यह भी तो कल्पना कर सकते थे कि इस नाम की कोई देवदासी वहां रही होगी जो प्रायः मंदिरों में देवपूजा हेतु रहा करती थीं।

जोगीमारा के गुफा चित्र जैन धर्म से सम्बंधित माने गये हैं। देवदासी की उपस्थिति इस मत को बल प्रदान करती है। जैन धर्म में देवदासी की प्रथा का महत्व और प्रचलन आज भी है। इन चित्रों के और अधिक अध्ययन की जरूरत है। आज जोगीमारा से पूर्व की ओर समकालीन गुफाएं प्राप्त नहीं हो सकी हैं। बाद की उपलब्धियां तो प्रकाश में आ चुकी हैं, उनमें अजन्ता, बाघ, सित्तन्नवासल, एलोरा तथा दक्षिण के अन्य केन्द्र हैं जहां चित्रकारी के अवशेष आज भी विद्यमान हैं।

ताड़ पत्रों पर लिखित पोथियों को सुरक्षित रखने के लिए काष्ठ पट्टिकायें निर्मित की गयी, उन्हें भी चित्रित करने की प्रथा चली। राजस्थान के 850 वर्ष प्राचीन जैसलमेर दुर्ग के प्रसिद्ध जैन मंदिरों के ग्रंथागारों में दो सचित्र पटलियां उपलब्ध हैं जिन पर जैन मूर्तिशास्त्र की विद्यादेवियों के चित्र अंकित हैं। इन विद्यादेवियों के चित्रण की प्रेरण स्पष्टतः पालकालीन बौद्ध पाण्डुलिपियों के चित्रों से ली गई है। ये बौद्ध पाण्डुलिपियां पालवंशीय शासक रामपाल के शासनकाल में सम्भवतः 11वीं शती ई. के उत्तरार्द्ध या 12वीं शती ई. के पूर्वाद्ध की चित्रित हैं। इन विद्यादेवियों के पटलियों के दिलहों में से एक दिलहे में दो उपासिकाऐं चित्रत हैं दूसरी पटली पर भी ऐसी ही उपासिकाऐं चित्रित हैं, इस पटली पर जिन दत्त सूरि जी भी चित्रित हैं। ये पटरियां ओध

नियुक्ति के आवरण पर हैं। इनकी रचना 1122 से 1154 ई. के मध्य हुई। इन पटलियों पर चित्रित महिलाओं के चित्रों में बाघ–अजन्ता के नारी चित्रों के आकार और मुखाकृति के चित्रण की परम्परा का निर्वाह दिखता है।

बाघ चित्रों के बारे में जानकारी देते हुए मैं कहना चाहूँगा कि अजंता के समान गुप्त युगीन चित्रों का दूसरा केन्द्र मध्यप्रदेश में बाघ नाम का छोटा सा गांव है। यहां विन्ध्याचल की पहाड़ियों में काटी हुई नौ गुफाऐं हैं। इनमें बहुत से चित्र मिट गए हैं विशेषतः छतों पर के चित्र बिल्कुल दिखाई नहीं देते। चौथी व पांचवी गुफा के चित्र कुछ अच्छी दशा में हैं। विद्वानों की सम्मति में बाघ के ये चित्र अजन्ता के चित्रों से किसी दशा में कम नहीं हैं। किन्तु बाघ के चित्र प्रधानतः भौतिक जीवन को चित्रित करते हैं। अजन्ता एवं बाघ जैसे भिति चित्र सितनवासल तथा सिगिरया (श्रीलंका) में भी मिले हैं।

गुप्तकाल में कला के इस उत्कर्षमय विकास से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में गुप्त सम्राटों के साथ–साथ राज कर्मचारियों तथा सामान्य प्रजा जनों में भी कलाओं के प्रति आग्रह एवं अभिरुचि थी।

चित्रकला में मालवा (मध्यभारत) भी पीछे नहीं रहा। आरम्भिक राजस्थानी शैली के निर्माण में मेवाड़ के समान ही मालवा का महत्व स्वीकार किया जाता है। कला मर्मज्ञ आर्चर ने तो यहां तक कहा है कि स्वयं मेवाड़ की चित्रकला मालवा से ही प्रेरणा लेकर विकसित हुई थी। वस्तुतः राजस्थानी शैली को सर्वाधिक प्रेरणा दक्षिण राजस्थान, गुजरात तथा जौनपुर आदि की चित्रकला से मिली थी। जौनपुर पूर्वी उत्तर प्रदेश में है। वहां अपभ्रंश शैली का विकास गीत गोविंद तथा "रागमाला" आदि के चित्रों में 15वीं शती में एक ऐसे रूप में हो रहा था जिसमें गुजरात एवं दक्षिण राजस्थान के समान ही दूसरी आंख का अभाव, पूर्ण पार्श्वगत (एक चश्म) मुखाकृति, बड़े आकार की आंख की पुतली, गठनशीलता प्रदर्शित करने वाली रेखाओं से निर्मित शरीर आदि के उद्भावना हो चुकी थी। गुजरात में भी इसी प्रकार का आंदोलन चल रहा था। आर्चर ने गुजरात तथा जौनपुर का महत्व मानते हुए भी माण्डू (मालवा) को ही आरम्भिक राजस्थानी शैली का उद्गम स्थल माना है और इस प्रकार एक मध्य भारतीय चित्रकला की कल्पना कर डाली है। माण्डू में 'निमातनामा' के चित्र बने। इनकी तिथि 1469–1501 ई. थी। इनको 'न्यामतनामा' भी कहते हैं। इसके चित्रों पर फारस की तुर्कमान शैली का प्रभाव है जिसका सर्वश्रेष्ठ चित्रकार बिहजाद था। 1550 ई. के लगभग अंकित रंगमाला के चित्रों को भी आर्चर द्वारा माण्डू का माना गया है। रंगमाला चित्रों की मानवाकृतियां अपभ्रंश शैली के बहुत निकट हैं जबकि निमातनामा की मानवाकृतियां अधिक स्वाभाविक और फारसी ढंग की है। निमातनामा में फारसी तथा अपभ्रंश शैलियों का समन्वय है। जबकि रागमाला के चित्रों में अपभ्रंश शैली का ही व्यापक प्रभाव है, अतः इन चित्रों को केवल एक दो अलंकरणों या किसी एक रंग के प्रयोग के कारण ही माण्डू में चित्रित नहीं मानना चाहिए।

प्राचीन मालवा प्रदेश के अंतर्गत ग्वालियर, उज्जैन, इन्दौर, माण्डू तथा धार सम्मिलित थे। तेरहवीं से 15वीं शती तक यहां तुर्कों का राज्य रहा, तत्पश्चात् पठनों का 1561 से 18वीं शताब्दी

पर्यन्त यह मुगलों के अधीन रहा। समय समय पर यहां मराठों ने भी कुछ स्थानों पर अधिकार कर लिया था। इन समस्त युगों में यहां उनके प्रभाव आये। भारत केन्द्र में स्थित मालवा के पूर्व में अवध तथा जौनपुर उत्तर में राजस्थान, दक्षिण में मुस्लिम शासन और पश्चिम में गुजरात के राज्य थे। इन सभी राज्यों की संस्कृति और कला का मालवा में समन्वय हुआ।

1436 ई. में महमूद खिलजी ने मालवा पर अधिकार कर लिया। उसके उदार शासन में हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय हुआ। उसने चित्रकला में भी समन्वयात्मक मार्ग निकाला। महमूद खिलजी कवि भी था और उसके समय मालवा और बुखारा में परस्पर सांस्कृतिक सम्बंध भी थे। गयासुदीन खिलजी 1469–1501 ई. के समय में ये सम्बन्ध और भी दृढ़ हुए। जीवन के अंतिम वर्षों में उसने स्त्रियों का एक नगर बसाया जिसमें पंद्रह हजार स्त्रियां भारत, खुरासान, बुखारा, अबीसीनिया तथा तुर्की से लाई गई थीं। इनके माध्यम से उसने एक विचित्र संस्कृति को विकसित किया जिसमें इन समस्त स्थानों की रुचियों और कलाओं का प्रभाव था।

गयासुदीन के पश्चात् नासिरूदीन 1502–1512 शासक हुआ। उसके समय फारसी शैली का पुनः प्रभुत्व हो गया। यद्यपि इस काल की कला का परवर्ती शैली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तथापि इस समय के चित्रों का एक अभिप्राय समस्त मालवा शैली में रूढ़ हो गया जिसमें चित्र के निचले भाग में एक पट्टी अंकित करके उसे फूल पत्तियों द्वारा अलंकृत कर दिया जाता था। महात्मा शेख सादी कृत 'बोस्तां के चित्र जो 1503 ई. में बने, इस शैली के उदाहरण हैं।

1505 ई. में निमातनामा का चित्रण हुआ। इसके चित्रों में शीराज की तुर्कनाम शैली के साथ किंचित भारतीय लक्षण भी मिलते हैं। कहीं कहीं स्त्रियों की भारतीय वेशभूषा एवं मुखाकृतियां आम आदमी आदि के वृक्षों का समावेश, भारतीय मुद्राएं, पारदर्शी ओढ़नी, गोलाई लिए हुए शरीरांगों की रचना, बड़ी तथा अपभ्रंश शैली जैसी आंखे आदि यह स्पष्ट घोषित करती है कि जौनपुर शैली के ढंग की चित्रकला इस स्थान पर यथेष्ट लोकप्रिय थी।

नासिरूदीन के पश्चात् महमूद द्वितीय (1512–31) गद्दी पर बैठा। यह हिन्दुओं के प्रति बहुत सहनशील था और मंत्री मेदनीराय नामक हिन्दू था। उसकी हिन्दू समर्थक नीति से क्रूद्ध होकर गुजरात के मुस्लिम पठान राजा ने 1531 ई. में मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। 1534 तक यह गुजरात के अधीन रहा और तत्पश्चात् बाज बहादुर को मालवा की सत्ता सौंप दी गई।

1554 ई. बाज बहादुर के गद्दी पर बैठने से परिस्थितियों में पुनः सुधार हुआ। रूपमती के साथ उसकी प्रणय गाथा लोक प्रसिद्ध है। संगीत तथा कविता का भी उसे शौक था और वह फारसी, अवधी तथा हिन्दी का अच्छा ज्ञाता था। अवधी कवि मुल्ला दाउद कृत 14वीं शती की एक रचना "लौर चन्दा" तथा संस्कृत कवि बिल्हण कृत "चोर–पंचाशिका" नामक प्रेमाख्यानक काव्यों का चित्रण सम्भवतः यहीं पर बाजबहादुर के समय हुआ। इन ग्रंथो के चित्रों की आकृतियां एवं चित्र योजना अपभ्रंश शैली के आरम्भिक राजस्थानी शैली में परिवर्तन के समय गुजरात, राजस्थान व जौनपुर में मिलने वाली विशेषताओं से युक्त हैं। पुरुषों को पठानों की भांति कुल्लेदार साफा पहने

अंकित किया गया है। शरीर पर झीना चाकदार अंगरखा या जामा है। स्त्रियों को लहंगा, चोली तथा पारदर्शी ओढ़नी पहनाई गई है। कुछ विद्वान इसे मेवाड़ में चित्रित मानते हैं।

1561 ई. में माण्डू को मुगलों ने जीत लिया। रानी रूपमती ने आत्मघात कर लिया और बाजबहादुर भाग खड़ा हुआ। 1570 ई. में उसने आत्म समर्पण कर दिया। आर्चर का विचार है कि यहीं से भागे हुए चित्रकार मेवाड़ पहुंचे जिन्होंने 1580 के लगभग ''गीत गोविंद'' तथा 1650 में ''रागमाला'' का चित्रण किया। कुछ चित्रकार गांवों में छिप गये होंगे। जिन्होंने 17वीं शती में तीन विभिन्न शैलियों का विकास मालवा में किया। ये तीनों शैलियां प्राचीन परम्परा में ही हैं।

इसमें प्रथम शैली प्राचीन माण्डू की शैली का ही विस्तार है। संयोजनों की सरलता, आकृतियों की, मुद्राएं रंगों की चटख तथा वास्तु एवं वृक्षों की स्पष्ट सीमायें, प्राचीन शैली के ही अनुसार है। मुद्राओं की कठोरता में किंचित परिवर्तन एवं रेखांकन में कुछ बारीकी का समावेश हो गया है। मुखाकृति की कोणात्मकता तथा वस्त्रों की पद्धति भी बदल गई है। नीला रंग अति महत्वपूर्ण रंग हो गया था।

दूसरी व तीसरी शैली निकटवर्ती राज्य नरसिंहगढ़ में विकसित हुई। यहां 1680 ई. में रागमाला के चित्र बने। इन चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता अग्रभूमि में पत्रावली का आलेखन है। आकृतियों में अत्यधिक स्वाभाविकता आ गई थी। भवनों के पीछे तेज रंग की पृष्ठिका चित्रित की गई थी। भवन तथा मानवाकृतियों एवं वृक्ष सभी गहरे रंगों की पृष्ठ भूमि द्वारा उभारे गये हैं। इन चित्रों की एक विशेषता लहंगें के ऊपर झीनी साड़ी का अंकन है, जिसको ओढ़नी की भांति पहनाया गया है। संयोजनों में अपूर्व सरलता है।

यह शैली कुछ समय तक मालवा की कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसके उपरांत मालवा में अहमद नगर तथा दक्षिण का प्रभाव प्रमुख हो जाता है। फिर नीले एवं कोमल हरे रंगों का प्रभाव बना रहता है। संभव है अहमद नगर का 1600 ई. में पतन हो जाने पर वहां के चित्रकार उत्तर की ओर चल पड़े हो। 18वीं शती तक ये चित्रकार मालवा की कला में अपना प्रभाव धीरे–धीरे जमाते रहे क्योंकि 18वीं शती की ही कला में व्यापक रूप से परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। 19वीं शती के आरंभ में यहां कला का पतन हो गया। मालवा पर मराठों के निरंतर आक्रमणों से वहां की शांति भंग हो गई मालवा के अनेक कलाकार जयपुर, ओरछा आदि राज्यों में चले गये।

मालवा शैली में 1633 ई. तथा 1680 ई. में केशवदास–कृत रसिकप्रिया के चित्र 1660 ई. में पुहकर कवि की रसावली के सुखदेव नामक चित्रकार द्वारा अंकित चित्र 1650 ई. में भागवत पुराण, रामायण, 1675 ई. में देवी महात्मय एवं रूक्मिणी हरण आदि के भी चित्र अंकित किये गये।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है मध्य भारत की चित्रकला में ''मालवा शैली'' का अधिक बोलबाला था उसी की ही प्रभुसत्ता थी। इसे जानने के बाद हम कह सकते हैं कि मध्य भारत में ''मालवा शैली'' ही पूर्णतः छाई हुई थी।

□□

पन्ना जिले की चित्रकला

डॉ. नरेश कुमार पाठक

चित्र मानवीय भावनाओं की सहज एवं सशक्त अभिव्यक्ति का सुन्दर आधार है। यही कारण है, कि मानव इतिहास के साथ ही चित्रकला का विकास अविछिन्न रूप से सन्नद्ध रहा है। चित्रकार रेखा और रंग के सहारे किसी आधारभूत सतह पर अन्तर्जगत तथा ब्रह्म जगत के उद्‌भूत भावों को साकार करता है। शिल्प शास्त्रों में चित्रकला को अन्य कलाओं में श्रेष्ठ माना गया है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की दात्री है[1]। चित्र के छः अंग बतलाये गये हैं, रूप भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य–योजना, सादृश्य तथा वर्णिका भंग[2]। सुन्दर चित्र के दर्शन मात्र से मानव के अन्त में छिपी सौन्दर्यानुभूति की तरंगे उद्वेलित होने लगती हैं। इन चित्रों को देशकाल की परिस्थितियों ने सतत् प्रभावित किया है। सांस्कृतिक उन्नयन के विभिन्न सोपानों के परिप्रेक्ष्य में ही क्षेत्र विशेष की चित्रकला का अध्ययन करना समीचीन होगा पन्ना जिले में मूर्तिकला, स्थापत्य कला जैसी अनेक कलाओं का बहुमुखी विकास हुआ चित्रकला के क्षेत्र में भी इस जिले का महत्वपूर्ण योगदान रहा है[3]। दुर्भाग्य से इस जिले का व्यापक सर्वेक्षण नहीं हुआ है, जिससे इसका सही क्रमिक विकास नहीं मिलता है।

पन्ना जिले के विभिन्न स्थानों से प्रागैतिहासिक चित्र उपलब्ध हुये हैं। पन्ना जिले में बृजपुर में चित्रित शैलाश्रय का समूह जो पन्ना से उत्तर–पूर्व में लगभग 40 कि.मी. की दूरी पर बाधन नदी के तट पर स्थित है, और बृहस्पति कुण्ड के नाम से जानी जाती है। यहां पन्ना से रामखिरिया की ओर जाने वाली बस से भजना धरमपुर उतर कर पांच कि.मी. जंगली मार्ग से बृहस्पति कुण्ड जाना होता है। शैलचित्रों में शिकार, नृत्य और राजकीय जुलूस आदि के दृश्य हैं, इनमें मानवीय तथा पशुओं दोनों के चित्र दिखाये गये हैं। पशुओं में जिराफ विशेष उल्लेखनीय है[4]। यहां पर पांच सौ फीट लंबी चट्‌टानों की छाया में दूसरी चट्‌टान है, जिस पर चार सौ छपन्न फीट की लम्बाई तक बनी आकृतियों में बारह सिंह, घोड़े, गाय तथा हाथी जैसे दिखाई देने वाले पशुओं की सत्तानवें आकृतियां हैं। चलते–चलते पशुओं के बच्चों की छोटी आकृतियां पीछे को मुड़कर देखती हैं। पन्ना नगर से 15 कि.मी. दूर एक बराछ गांव है, यहां ऐतिहासिक गुफा है, गांव के समीप अकोलानाले पर स्थित इस स्थान पर प्रागैतिहासिक काल के मानव के चिन्ह दिखाई देते हैं। यहां के गेरू के धूसर लाल चित्रों से गुफाओं में रहने वाले मानवों के निवास के प्रमाण मिलते हैं, इन शैलचित्रों में मुख्यतः शिकार और त्यौहार के चित्र हैं। इनमें कुछ जंगली जानवरों का भी चित्रण है, ये शैलचित्र भीम बैठका के नव पाषाण कालीन शैलचित्रों की तरह हैं[5]। पन्ना से 20 कि.मी. दूर राष्ट्रीय उद्यान से लगे जरधोवा के जंगल से शैलाश्रय मिले हैं। इन शैलाश्रयों में लाल रंग से बने शैलचित्रों में शिकार का दृश्य में मुख्यतः हथियार तीर और कमान, जंगली जानवरों के चित्र भी हैं। स्थानीय ग्रामीण इन्हें खून की पुतरिया कहते हैं[6]। पन्ना तहसील में दिया से एक कि.मी. दूरी पर गढ़ी के पास खेर माता का स्थान है। यहाँ विन्ध्य कगार में चुरैलहा स्थल पर शैलचित्र बने हैं[7]। इनके अलावा पाताल कुण्ड

संग्रहालयाध्यक्ष, राजकीय संग्रहालय मंदसौर, मध्यप्रदेश

बेधक, धरमपुर के निकट हीरापुर, लखनपुर का सेहा मदार साहब, ग्राम सिलहटी थाना वृजपुरा, सिलहरा, चहला, सिद्धपुर, इटवां, सारंग, कोआ सेहा व देहलान चौकी के पहाड़ से शैलचित्र मिले हैं[8]। डॉ. एस.डी. त्रिवेदी का मत है कि पन्ना जिले में अच्छी प्रकार से सर्वेक्षण नहीं हो पाया है, यहाँ कुछ और शैलाश्रयों के मिलने की सम्भावनाएं हैं[9]।

बुन्देलाशैली के चित्र इस जिले में महाराजा छत्रशाल के समय से मिलते हैं, इनका राज्याभिषेक सन् 1687 ई. के प्रारम्भ में हुआ[10]।, पन्ना नगर में राधिका महारानी जू के मंदिर की एक प्राचीर पर प्राणनाथ जू के सम्मुख छत्रशाल 35×25 से.मी. आकार का चित्र है। चित्र की सभी आकृतियां पार्श्वगत हैं, इस चित्र में शीर्ष पर सौराष्ट्रीय टोप तथा गुजराती पगड़ी है, ऊर्ध्ववस्त्रों में कतैया गरगा तथा पतले कटि वस्त्र हैं। अधोवस्त्रों में पायजामा है। छत्रशाल की दाढ़ी, मूछे, कतैया, केश, बुन्देली हैं। महिला आकृतियों में चोली तथा धोती है। चित्र की पृष्ठ भूमि में अजयगढ़ का वातावरण है। इस चित्र की अनेक प्रतियां प्राप्त होती हैं। इस चित्र में श्वेत फालशाही काला, लाल पीला एवं हरा रंग का प्रयोग हुआ है। राधिका जू का मंदिर जो पन्ना धाम से किला नदी की ओर चलने पर मिलता है, इस मंदिर के प्रदक्षिणापथ में कृष्ण लीला के 93 चित्रों में से 36 चित्र अन्य चित्रों की प्रतिकृतियां है। यह चित्रण पार्श्वागत आकृतियों का है, जिनमें शीर्ष पर किरीट महिलाकृतियों में लहंगा, ओढ़नी तथा चोली है। रंगों में नीला, पीला, लाल, काला रंग है, ऐसा प्रतीत होता है, कि बुन्देली शैली के भित्ती चित्रों को पश्चिमी तड़क भड़क से प्रभावित होने के कारण अविकसित कलाकारों ने तेल चित्रण से पुर्नुदघाटित करके प्राचीन कलम का लोप कर दिया है। डॉ. महेन्द्र वर्मा के अनुसार इन चित्रों में मुगल तथा राजस्थानी शैली का प्रभाव है।[11] डॉ. एस.डी. त्रिवेदी ने यहां चित्रों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि अधिकतर दृष्य कृष्ण कथानक से संबंधित हैं[12]। एक अन्य चित्र में पन्ना धाम तथा मुहल्ला के मार्ग सहित उभय पार्श्वीय आवासों को पाश्चात्य नेत्र दशा में चित्रित किया गया है। इनमें सभी चित्रण नेत्र के नीचे हैं। पन्ना में रागिनीयों का बहुत चित्रण हुआ है। इस प्रकार के चित्रण का विशाल संग्रह पन्ना के प्रणामी धाम में संग्रहित है। जिसमें लगभग 100 चित्र हैं। इन चित्रों में ''खण्ड मंजरी'' रागिनी मेर, रागिनी भैरवी, भालकोस की रागिनी, विलावल हिंडोल की रागिनी, देश वडारी, दीपक रागिनी प्रथम राग भैरू, ''रागमाला कोस'' पंचम रागिनी ''श्री राग'' विलास, श्री राग की रागिनी, गंधार सिंडोले के चित्र हैं, सभी चित्रों में ढेठ सवा चौड़ी हंगरी गोट है तथा पीली पृष्ठभूमि पर काले रंग से राग रागिनी के लक्षणों को बताने वाली चौपाईयाँ या दोहे लिखे हैं–

''शिव स्वरूप सिर गंग विराजे उज्जवल रूप तन छाजे।

वाडाम्बर बैठे अति सोहे। मैरू राग नारिपथ मोहे।''

राग रागिनियों के चित्रण में आकृतियां पोने दो चश्म तथा पार्श्वागत है। 'रागनी भैरवी' चित्र की पृष्ठ भूमि में भवानी महल दतिया जैसे स्तम्भ हैं। चित्रगत मंदिर के शीर्ष भाग में स्वर्ण का प्रयोग है। इन चित्रों के रेखाओं में विलक्षण सूक्ष्मता है। सभी आकृतियों के चंदन लेपित मस्तक हैं तथा

वस्त्र पारदर्शक हैं। चित्रगत प्रासाद या प्रासाद खण्ड श्वेत बनाये गये हैं। आकृतियों के चयन रसीले तथा शारीरिक अनुपात छः में सिर हैं। कलाकार के वस्त्र विन्यास में सर्वथा पारदर्शिता का प्रदर्शन किया है। छतरपुर की भांति आम तथा कदली वृक्षों का चित्रण यहां भी प्रचुर है। इन चित्रों के नीचे काले का मिश्रण हरा, श्वेत, लाल, पीला एवं काला रंग प्रयोग किया गया है।

पन्ना जिले का तहसील मुख्यालय अजयगढ़ जो बुन्देलों की एक रियासत भी थी, यहां अन्य कलाओं के साथ चित्रकला का अभ्युदय हुआ अजयगढ़ के चित्रों को त्रिवर्गों में विभक्त किया जाता है, प्रथम व्यक्ति चित्र द्वितीय घटना चित्र एवं तृतीय सामाजिक चित्र हैं। व्यक्ति चित्रों में प्राणनाथ जू देव के दरबार में छत्रशाला 23×12 से.मी. माप का चित्र है। चित्रगत पांचों आकृतियां पार्श्वगत है। छत्रशाल के शीर्ष पर पाग, भृत्यों के शीर्ष पर टोपियाँ तथा सौराष्ट्रीय टोप है। उर्ध्व वस्त्रों में कतैया, कटिवस्त्र बहुत विशाल तथा अधो वस्त्रों में पायजामा है। उपरोक्त चित्र का संयोजन नीली पृष्ठ भूमि के विरोधी हल्के रंग तथा गहरा लाल, श्वेत, काला तथा नारंगी रंगों का प्रयोग है। महाराजा जगतराज (1792–1837) ई. का व्यक्ति चित्र 31×23 से.मी. नाप का है। पार्श्वगत आकृति के शीर्ष पर पाग, ऊध र्व वस्त्रों में कतैया विशाल कटि वस्त्र पश्चात् चित्र ही छोड़ना पड़ा है। महाराजा बख्त सिंह (1792–1837 ई.) का 48×25 से.मी. नाम व्यक्ति चित्र है। आप चित्रगत आकृति पौने दो चस्म है। जिसके ऊपर उठी हुई मण्डील, उर्ध्व कतैया तथा कंधों से पड़ा हुआ दुपट्टा कुहनियों के निकट समाप्त हो जाता है। अधोवस्त्र धोती चित्रित की गई है। महाराजा माधव सिंह (1837–1849 ई.) महाराज जसवंत सिंह जू देव के ज्येष्ठ पुत्र थे। चित्र की माप 30×23 से.मी. तथा आकृति पार्श्वागत है। शीर्ष पर वटी हुई मण्डली ऊर्ध्व वस्त्रों में मुड़ी हुई बाहों ग्वालियरी शैली का कतैया तथा विशाल कटिवस्त्र है। चित्रों नीला, लाल, श्वेत, काला तथा हल्का नारंगी रंग का प्रयोग किया गया है। महाराजा महीपत सिंह जू देव (1849–1853 ई.) महाराजा माधव सिंह जू देव के अनुज तथा उत्तराधिकारी थे। पार्श्वगत आकृति का शीर्ष पगड़ी अलंकृत है। ऊर्ध्व वस्त्र शैली कतैया ग्वालियरी शैली का तथा कटि वस्त्र इतना विशाल है, कि त्रिकोणास्थि को आच्छादित कर लेता है। चित्रों में श्वेत, नीला, काला, फालशाही तथा पीले रंग का प्रयोग किया गया है। राजा परीक्षित द्वितीय का 19वीं शती के तृतीय–चतुर्थ चरण के चित्र की माप 30×20 से.मी. है। दरबार में चार पार्श्वगत आकृतियां है। छड़ी वरदार के शीर्ष पर मण्डीप, ऊध र्व वस्त्रों में कतैया ग्वालियरी शैली, बाहें मुट्ठी तथा कटि वस्त्र विशाल है। चित्र में हल्का नीला पृष्ठ भूमि में, श्वेत भवन खण्डों में, लाल गांव तकिया की गोट पकड़ी तथा द्वारा पार्श्वो में विभक्त करके प्रयोग किया गया है। हुक्का का निचला भाग रजत वर्णयुक्त है। जुलिफकार बहादुर–बादा के नवाब जुल्फिकार बहादुर, पौने दो चश्म आकृति है, जिसके शीर्ष पर लम्बा टोप, कोट तथा कसा पायजामा है। वाम हस्त में धूम्रपान करने की नाल तथा दाहिने हस्त में कृपाण है। रंगों में फालशाही, नीला, काला तथा श्वेत का प्रयोग किया गया है। बिजे बहादुर (1853–1885 ई.) का चित्र 21×15 से.मी. नाप का है। चित्र की आकृतियां पार्श्वगत, आकृतियों के शीर्ष पर प्रडिया, ऊर्ध्व वस्त्र कर्ता तथा पायजामा है, घोषणा कर्ता तथा हुक्का धारण की किशोरावस्त्रा छड़ी धारक को प्रौढ़ावस्था का चित्रण कलाकार ने सफलता से किया है। चित्र में केश विन्यास मंगल है।

अजयगढ़ के घटना प्रधान चित्रों में 19×15 से.मी. नाप का चित्र राजदरबार का है। चित्र में पौने दो चश्म तथा पार्श्वागत आकृतियां हैं। आकृतियों के शीर्ष पर बुन्देली पान ऊर्ध्व वस्त्रों में कुदिया की बगल बन्दी विशालकटिवस्त्र तथा अधोवस्त्र में गरगा तथा पूरे पायजामें है। राजाओं की आकृतियों में लटकता हुआ कटि वस्त्र का एक छोर तथा शीर्ष आकृतियों के कटि वस्त्र का भाग नहीं बनाया गया है। चित्र में काली, पृष्ठ भूमि, लाल तथा हरे के विरोध में बनाई गई है। सुनहरा, पीला, काला रंग प्रयोग है। नारंगी रंग गोट में प्रयोग किया गया है। घटना प्रधान अन्य चित्र युद्ध का है, जिसका माप 31×23 से.मी. है। चित्र में 79 आकृतियां है तथा विशाल गुम्बदों युक्त पारिवारिक निवास योग्य प्रासादीय किला की आकृतियों में आम्ल एवं बुन्देली परिधान है। केवल परिधान में शीर्ष पर मण्डलीज तथा पाग ऊर्ध्व वस्त्रों में कतैया विशाल कटि वस्त्र अधोवस्त्रों में पायजामा तथा धोती है। चित्र में रेखायें बारीक हैं। निकटस्थ तथा दूरस्थ आकृतियों में विशाल एवं लघुता दिखाकर परिप्रेक्ष्य का निर्वाह किया गया है। अजयगढ़ की घटना प्रधान अन्य चित्र 30×24 नाप का है। अन्तपुर में क्षमा याचना चित्र में छः आकृतियों पौने दो चस्म तथा पार्श्वगत है, राजा की शयन भंगीमा में शीर्ष पर मण्डली, ऊर्ध्व वस्त्र में कतैया, विशाल कटि वस्त्र तथा अधोवस्त्र में पायजामा है। कतैया की बाहें ग्वालियरी शैली की है। महिला आकृतियों में लहंगा, चोली, ओढ़नी, तथा ऊपर भी अन्य ओढ़ा हुआ दिखाया गया है। स्त्रियों के चेहरों की बनावट तथा चेहरों में विविधता है, आंखें बड़ी शक्तिशाली प्रभावशाली एवं सुन्दर हैं, होठों पर ताम्बुल का प्रभाव तथा उदर प्रदेश सुन्दर है। हुक्के की नाल विशाल है।

अजयगढ़ के सामाजिक चित्रों में 30×22 नाप का चित्र सन्यासी की धूनी है। चित्र में कोमलता प्रधान गुण है। मूछों के निकलने का प्रभाव चिन्तनलीन अन्तर दृष्टि तथा ठंडे रंग दर्शक पर शान्त प्रभाव प्रेषित करते हैं। आकृतियों की लम्बाई 6 सिर है, चित्र में क्षितिज रेखा ऊपर है। सामाजिक अन्य चित्र ''श्रृंगार'' है। चित्रगत दो महिलाये याने दो चश्म तथा पार्श्वगत है। श्यामांगी नायिका को गैरंगी नायिका दर्पण प्रदर्शित कर रही है। दर्पण धारिणी की नुकीली नासिका, मीनाक्ष नापकार भू मूंगवलीवत निचला होष्ठ गोल एवं छोटा है। ओढ़नी पारदर्शक है। रंगों में फालशाही, सुवापंखी हरा, हल्का कत्थई, श्वेत तथा गहरा नीला आदि रंग है। चित्र की गोट सिन्दूरी है। आभूषणों में चूड़ी, बाजूबन्द ढाल कानों का आभूषण बालियां हार तथा हंसली है।

अजयगढ़ के चित्रों में संयोजन फलक की आधार रेखा के समानान्तर अन्य रेखा पर लम्बवत् है, प्राणनाथ जू देव के दरबार में 'महाराजा छत्रशाल' चित्र में नीली पृष्ठ भूमि में विरोधी रंग रे का प्रयोग है, चित्र में आंखे रसीली छोटे पतले ओठ, बुन्देली शैली की मूछें तथा केश है। गद्दी एवं छतरी में भारतीय परिप्रेक्ष्य है। महत्वपूर्ण आकृतियों की कतैया को पारदर्शक होने के साथ अलंकृत दिखाया गया है। 'महाराजा जगतराज' के चित्र में आंखों की ऊपरी पलक रेखा नीचे की अपेक्षा अधिक गहरे रंग की है। तथा नेत्रों के नीचे की ओर होठ के पास धुरिया बनाने की प्रवृत्ति है। महाराजा जगतसिंह जू देव का मुख अंग्रेजी के यू आकार का है, जिसमें कर्ण बनाने की शैली अलंकृत है। कर्ण की बाहू-रेखा के अंदर अण्डाकार आकृति बनायी गई है। अजय गढ़ बुन्देली रियासत होते हुये भी

पेशवाई शैली के बड़े मोती युक्त बालियाँ बनाने की परम्परा भी यहां प्राप्त होती है, यहां के चित्रों में कलाकार नेत्र बनाना नहीं भूलता है। वाली की कलमें लम्बी तथा केश 19वीं शती 20वीं शती ईस्वी के लखनवी नवाबों जैसे कान के नीचे से पीछे को उड़ते चापाकार है। माधव सिंह जू देव के वस्त्र कंधों से दाहिनी कटि की ओर लटकता पट्टा है। आंखों तथा बालों में कोमलता यहां का विशेष गुण है, किन्तु जुल्फिकार बहादुर के बाल कठोर गल मुच्छों तक आती कलमें भेंडी आंख तथा उंगलियों का रेखांकन शान्तिहीन है। ''राजदरबार'' चित्र में ऊर्ध्व वस्त्र कतैया के स्थान पर गुटिया–फुदिया वस्त्र से बनी बटन तथा धागा से बाई ओर बांधा जाने वाला वस्त्र की बगल बन्दी है। राजा के मुकुट शाही तिलक, वातालाय सुनने की मुद्रा तथा उत्तर की प्रतीक्षा आदि की मुद्राएँ मुख से प्रदर्शित की गई है।

घटना प्रधान ''युद्ध'' चित्र को चित्रण करने में अजयगढ़ का कलाकार ओरछा तथा झांसी के कलाकारों की भांति गति रहित आकृतियों की सृष्टि करता है। वह युद्ध की तीव्र गति को कभी भी सुन्दरता पूर्वक दिखा नहीं पाया है। यह युद्ध की तीव्र गति को कभी भी रेखाओं पर आधारित ज्यामितीय रूपों द्वारा नियोजित किया गया है। पृष्ठ भूमि में वृक्षों से सूखापन मिट गया है।

अन्तपुर में ''क्षमा याचना'' चित्र में सभी आकृतियों की दृष्टि रेखा से निर्मित रेखाभास का केन्द्र बिन्दु राजा की आंखें 'सन्यासी की धूनी' चित्र में स्थानीय शिशिर ऋतु का प्रभाव सुन्दरता पूर्वक दिखाया गया है। श्रृंगार चित्र में पारदर्शकता दिखाने की वही शैली है, जो खजुराहों पैलेश गैलरी के चित्र आलमगीर वंगस की वेगम ''चित्र में अपनाई गई है। श्रृंगार चित्र में आकृति एवं ग्रीव ताकिया को पृथक एवं स्पष्टता प्रदान करने के लिये अवयवों एवं गांव तकिया के चारों ओर रेखा बनाए गई है।

अजयगढ़ के सभी चित्रों की गोटे सिन्दूरी तथा कुछ चित्रों में दुहरी तथा पृष्ठ भूमि नीली है। प्राणनाथ जू के दरबार में महाराजा छत्रशाल, महाराजा पारक्षित, महाराजा जगतराज, महाराजा बरखतसिंह जूदेव तथा महाराज महीपसिंह जू देव के भाव तकिया व वस्त्र क्रमशः फालशाही तथा श्वेत रंग के पकही शैली से बनाये है। यहां के कलाकार श्वेत रंग को बनाने के लिये कोड़ी या सीप के चूने की भस्म को गोंद में मिश्रित करने का प्रयोग करते थे। तूलिका को थप थपाकर मेघ बनाये गये है।

''अजयगढ़ के आधुनिक कलाकार अम्बिका प्रसाद ''दिव्य''

अम्बिका प्रसाद 'दिव्य'' की 6 पीढ़ी पूर्व आपने पूर्वज बृन्द प्रतितामह श्रीकामता प्रसाद अजयगढ़ के तत्कालीन महाराजा रणजोर सिंह (1858–1919) ई. में काल में बांदा से आकर अजयगढ़ के निवासी हो गये थे। तब से यह परिवार क्रमबद्धतापूर्वक यहां के राज्य में राज्य परिवार के साथ सम्बद्ध रहा था। 'दिव्य' जी का जन्म 16 मार्च 1907 ई. को अजयगढ़ में हुआ था। आपको चित्रकला की प्रेरणा रणजोर सिंह के राज कलाकार श्री मोहनलाल शुक्ल से प्राप्त हुई जो अपने समय के कुशल तेल चित्रण कलाकार थे। इस समय ''दिव्य'' जी कक्षा तीन के विद्यार्थी थे। ''दिव्यजी'' मूलतः

जलरंगों के कलाकार थे, आपने आगरा विश्वविद्यालय से एम.ए. किया था। सन् 1933 ई. से 1950 तक अध्यापन कार्य किया। रियासते समाप्त होने पर उनकी प्रोन्नति नौगांव (छतरपुर) जिला के अन्तर्गत प्राचार्य के पद पर हुई।

आपके चित्रों का प्रकाश ''माधुरी'' में हुआ था। सन् 1946–47 में विन्ध्य प्रदेश हिन्दी पुरस्कार योजना के अन्तर्गत ''हमारी चित्रकला'' पर पांच सौ रुपये का छत्रसाल पुरस्कार प्राप्त हुआ था, आपका एक लेख, ''ओरछा की चित्रकारी'' ओरछा नामक पुस्तक में लक्ष्मण सिंह गौर ने पृष्ठ 28–33 पर प्रकाशित किया है। आप अपने चित्रों के शीर्षक नहीं रखते थे। आपके चित्रों का क्रय प्रायः टीकमगढ़ में हो जाया करता था। आपके चित्र ''दिव्य दोहावली'' तथा ''दि वमन ऑफ खजुराहों' में है। आपने अजयगढ़ के महाराज पुष्प प्रताप सिंह जू देव 1942–48 ईस्वी को ''बुन्देल खण्ड के पक्षी'' शीर्ष के अन्तर्गत पैतालीस तथा महाराजा वीरसिंह जू देव तृतीय टीकमगढ़ को दो शतचित्र प्रदान किये हैं। मूर्तियों का चित्रण करने के उद्देश्य से टीकमगढ़ महाराजा वीर सिंह जू देव तृतीय (1930–56 ईस्वी) के आदेश पर सन् 1948 ई. में भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी तथा खजुराहों की यात्रायें की थी। आपकी विशिष्ट सेवाओं के लिये सन् 1961 ई. में राष्ट्रीय पुरस्कार देकर भारत सरकार ने आपको सम्मानित किया था।

सन्दर्भ :

1. कलानां प्रवरं चित्र धर्म कामार्थ मोक्षदम्।।
   विष्णु धर्मोतर पुराण चित्रसूत्रम् 43, 38
2. रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्य योजनम्।
3. त्रिवेदी एस.डी. 'बुन्देलखण्ड का पुरातत्व' झांसी 1984 पृष्ठ 61
4. ई. आ. रि. 1961–62 पृष्ठ 99 चित्र क्रमांक 143 एवं शर्मा राजकुमार ''मध्य प्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ भोपाल 1971 पृष्ठ 596 क्रमांक 599।
5. माथुर प्रकाशेन्द्र एवं महोबिया प्रेमचन्द्र ''विरासत पन्ना के पुरा वैभव की झलक'' पन्ना 2001 पृष्ठ 29
6. सिंह अरुण 'पन्ना में मिले पाषाण कालीन मानव सभ्यता के प्रमाण नव भारत सतना 2 नवम्बर, 2003
7. रावत खुमान सिंह ''पुरातत्वीय सर्वेक्षण जिला पन्ना वर्ष 1990–91
8. आदि मानव के आश्रय स्थलों की होगी खोजबीन नव भारत सतना 3.11.2003
9. त्रिवेदी एस.डी. 'बुन्देल खण्ड का पुरातत्व' पूर्वोक्त पृष्ठ।।
10. कृष्ण कवि वीर चरिता मृत पृष्ठ 286–288
11. वर्मा महेन्द्र 'कचलप्रभा' 1965 पृष्ठ 56
12. त्रिवेदी एस.डी. बुन्देलखण्ड का पुरातत्व पूर्वोक्त पृष्ठ 7

□□

Gujarātī Painting Of Sixteenth Century With Special Reference To The Bālagopāla-Stuti illustrations

Dr. Rashmi Kala Agrawal

The present study aims at Gujarātī miniatures of late sixteenth century among which the illustrated manuscripts of the *Bālagopāla Stuti* form the core of our discussion. The study of the *Bālagopāla Stuti* miniatures shall point out to the pictorial tradition of copying from the earlier compositions and at the same time the emergence of innovations. For this purpose I have selected the folios from late Shree Sangram Singh collection, from Jagadish and kamla Mittal collection, published folios from Kankroli collection. Bharat Kala Bhavan collection and from the Prince of Wales Museum collection, which belong to the late sixteenth and early seventeenth centuries A.D. An important manuscript of the fifteenth century *Bālagopāla Stuti* in the Wellcome Institute for the History of Medicine, London Shall also be discussed here for comparison of illustrations.

The illustrated manuscripts of the *Bālagopāla Stuti* in the Western Indian style display the earliest known representation of Kṛṣṇalīlā in Indian miniature painting. This text is an anthology of four-line Sanskrit hymns attributed to the poet Bilvamaṅgala, which have as their theme the loving adoration of Lord Kṛṣṇa. The hymns comprises both the bāla-līlā and also the adolescent kṛṣṅa's love frolics with the gopīes. At the same time there are abstract passages like 'I meditate upon that which is beyond the province of the *Āgamas*. It is the Absolute'' (folio 8r), or 'He is the Supreme Being of this world and Lord of all the three worlds'' (folio 37r), or 'It is Supreme, indescribable, wonderful. Yes, it is wonder, the wonder of wonders' (folio 17r). Such passages provide no scope for visualization. The artist very tactfully left such verses, and picked up only those which depict *līlās*. The hymns do not present a connected development of kṛṣṇalīlā but instead show stray scenes from the saga. As against the practice of Jain community where Kalpasūtra and Kālakācārya Kathā manuscripts were prepared for donation. the Vaiṣṇava *bhaktas* of Gujarat commissioned a number of series of the *Bālagopāla Stuti* in the Western Indian style in order to get darśana

---

प्रोफेसर हिस्ट्री ऑट्स बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

of their Lord, of whom they have been listening stories since their childhood. The devotee recites the verses and through seeing the paintings he takes darśan of the līlās of his Lord who enthralls the *gopīes* and *gopas* and the cows with his enchanting music in the eternal Bṛndāban. It was one of the most popular of all the texts of the Hindus for illustration in Gujarat in the fifteenth and sixteenth centuries. No less than fourteen manuscripts, illustrated in a range of styles over a period of two hundred years, is testament to the popularity of the *Bālagopāla Stuti*. In these manuscripts. like their Jain counterpats, there was a set of scenes which was practically repeated in all the available copies, even to the extent that the aberrations remained unchanged. The Boston manuscript discovered and published by O.C. Gangoly[1] and belonging to the early fifteenth century may well have been the original. The other series were copies, one from the other. The artists were so particular in drawing the set scenes in each series that even if the style was changed from Classical Western Indian as seen in the Boston manuscript, to the folk idiom in the miniatures of the Bālagopāla Stuti of mid sixteenth century in the Bharat Kala Bhavan collection,[2] the compositional details and scenes remained unchanged.

There was a revolution in the realm of Indian painting in around 1500 A.D. The most striking change was the absence of the farther eye, which was universally present in Indian painting at least since the eleventh century. Therefore it was really a revolution of thoughts to switch over to the strict profile face without the farther eye. There must have been leading forces to shed the 'farther eye' syndrome. For the first time this change occurred in the folios of the Bālagopāla Stuti of last quarter of the fifteenth century A.D. published in the Seth Vachaspati Kanhyalal Poddar Felicitation volume (1953). Here we find both the strict profile face and three quarter with farther eye. Later on in the Nimat Nama of India Office Library. London and in the Berlin Sikandar Nāmā we find Indian ladies with strict profile face without the farther eye. Indian painting movement at this point of time came to be known as the proto-Rajasthani painting style. This change swept over the local Gujarati painting of the sixteenth century. evidence of which we find from a number of illustrated manuscripts. Some of these manuscripts carry an extremely important fact that there was a gharānā of painters in the city of Ahmedabad or in the village of Matar (Kheda district, central Gujarat) where

these painters worked. We find the name of the painter Govinda in the famous Saṅgrahaṇī Sūtra dated A.D. 1583, painted in Matar.[3] The same Govinda, son of Nārada, painted the Bhāgavat Daśam-Skandha in A.D. 1610[4] (fig.58). This shows that this painter Govinda was actively illustrating manuscripts at least for thirty-three years, and with the name of his father available, we may safely assume that this 'house of painters' dominated the newly born Gujarati idiom (distinguished from the Western Indian Style) at least for half a century; it could possibly have a history of one or two generations more. There are a few more interesting points : (A) The volume of illustrations which this house of painters produced is quite large. The other manuscripts which have stylistic similarities with the Matar style are the Bhagavat painted at Ahmedabad in A.D. 1598[5] (mostly in the Jaipur City Palace Museum, and hundreds of moth eaten illustrated pages of this manuscript are scattered in different collections including Bharat Kala Bhavan, Varanasi and Oriental Institute, Baroda) the complete manuscript with sixty six pages of the Bālagopāla Stuti of Kankroli collection,[6] three folios of the Bālagopāla Stuti in late Sangram Singh collection of Naval Garh, some folios of the same text in the Jagadish and kamla Mittal collection (fig. 59-60), the Gīta Govinda manuscript in N.C. Mehta collection[7] (there are two styles in this manuscript, one style resembles with the Western Indian style but not having protruding eye and the other style is the typical of the painter Govinda's style), the Rati Rahasya pages from Muni Puṇyavijaya collection,[8] the Rājapraśniya Sūtra in the L.D. Institute of Indology. Ahmedabad.[9] the Uttarādhyayana Sūtra of 1591 in the Baroda Museum.[10] On the basis of the Matar Saṁgrahaṇī Sūtra illustrations we firmly know the characteristics of the Gujarati style in the later half of the sixteenth century A.D., as distinguished from the Western Indian style in the same region. The human faces in this manuscript are invariably in strict profile with large *patol* shaped eyes (the farther eye was completely absent), with sloping forehead, small and pointed nose and there is an inclination towards naturalism. We can designate this styles as 'Matar Style a Gujarati idiom of the Rajasthani School. This style at Matar had achieved a high degree of perfection and sophistication. These trends continue in the later manuscript mentioned above although sometimes the treatments are more free as we shall see in the Bālagopāla Stuti illustrating. (B) The known manuscript in this style and from this group of painters show that they were illustrating both the jain and the non-Jain manuscript. This

further endorses our earlier suggestion that these gharānā painters were a fund of such visual compositions from which they drew their source material for illustrations of manuscript, as and when they were commissioned by different types of clients. Although these painters of late sixteenth and early seventeenth centuries had completely drifted away from the Western Indian painting style, we would see from certain examples that they were simultaneously following some of the older forms.

Before coming to the Bālagopāla Stuti paintings we would briefly see that as against Govinda's style at the village Matar there is other parallet trend in Gujarat which is best illustrated by the Saṅgrahaṇī Sūtra, painted at Bombay in A.D. 1587,[11] and the other related manuscripts. Again the style is Gujarati as found in the Matar stream but one cannot fail to find certain distinctions. This is evident from the heavy and angular face, elongated eye type with red dots on either corner and heavily ornate rendering of the scene. This particular trend is more angular and to an extent archaic than the Matar style of Govinda and thus more in tune with the earlier traditions in the same region. The painter illustrator feels at home with intricate scrolls which spread over the costumes or even on the background space. The important manuscripts related to this trend are : the Saṅgrahaṇī Sūtra in the collect of Muni Shri Puṅyavijaya Ji first published by Rai Anand Kṛṣṇa,[12] a complete set of Rāgamālā in the Bharat Kala Bhavan, Varanasi,[13] a single illustrated folio of the Bhāgavat Daśam Skandha in the Kankroli collection,[14] the Pañcākhyāna Balavabodha of the M.S. University of Baroda,[15] the Rāgamālā pages in the S.M. Nawab collection,[16] a single page of *Rati Rahasya* in the Bharat Kala Bhavan Collection, and the *Gita Govinda* manuscript in the B.J. Institute, Ahmedabad.[17] In all these manuscripts or in the folios their local style of Gujarat had several levels of art expressions ranging from sophisticated to absolutely common place Bazar like (though not exactly folk) delineation. There is yet another Rāgamālā dated A.D. 1608 in the Baroda Museum collection.[18] The illustrations are near in pictorial expressions to the pre-Akbarī Caurapañcāśikā paintings. specially in rendering of the bed chamber, the cloud and tree types, the figures sitting on the farther edge of the cushion. The over all scenario of the painting gives an echo of that tradition. The two illustrated sets of the *Bālagopāla stuti* published by M.R. Majumdar now in the Prince of Wales Museum. Bombay

and one set of the same text in the National Museum, Delhi are illustrated in this second trend. We shall discuss these points in the following pages. One thing is clear that when the manuscripts of the above mentioned group were being illustrated in Gujarat the whole of northern India was under the Mughal rule, but the spirit of these Gujarati paintings is deeply submerged in the indigenous conservatism of Gujarat which was handed down for generations than being influenced by the dynamic and worldly art of Akbar school of painting where the artists excelled in verisimilitude. Regarding the suggestions of Mughal influence on these paintings made by U.P. Shah and Moti Chandra[19] specially in the matter of costumes. The treatment of animal figures and tree types. I can only add that these pictorial conventions had more in common with their early fifteenth century precursors than with the Safari and European formulae of the Mughal painting. Even if we compare kṛṣṇalīlā paintings of the Bālagopāla Stuti and the Bhāgavata Purāṇa of A.D. 1610 of this Gujarati School with the Harivaṁśa manuscript of the Akbar school, there is no match even in the smallest details though the illustrations are related with kṛṣṇa episode. Thus the influence of Mughal painting could not dislodge the inherent characteristics of the Gujarati School. If we see Jahangir period turban or Mughal type of furniture in Gujarati paintings, these may be assimilation of prevailing culture rather than Mughal painting influencing the Gujarātī miniatures. A progression towards 'naturalisms' the Matar style can be counted as 'influence' of the earlier on the latter.

After discussing in brief the Matar style of Govinda and the style of A.D. 1587 Saṁgradhaṇī, and the related works we would now take up the manuscripts of the *Bālagopāla Stuti* which were illustrated during the fifteenth to the early seventeenth centuries in Gujarat. In the fifteenth century copies, as said earlier, there were set scenes which were copied in later series and changes are minor. We have fortunately more than one manuscript of the Bālagopāla Stuti illustrated in the sixteenth century Gujarati idiom where we shall see in detail how much these were indebted to earlier traditions or how they have modified the composition. The earliest *Bālagopāla Stuti* manuscript of the sixteenth century with folios in the Bharat Kala Bhavan and the Prince of Wales Museum, is the folk variety of the Western Indian style where we find faces with farther eye and without the farther eye i.e. strict profile.20 The miniatures have resemblance with the A.D. 1576 *Pārśvanātha Vivihul* and the Upāsaka Daśāṅga Sūtra especially in

the delineation of the eyes. In all the three manuscripts the large elongated eyes are drawn as a pair on a continual horizontal axis giving the impression of full view face but the treatment of the pointed nose and the lips show the profile of the face. This shows an intervening phase when the artists in Gujarat were trying to come out from the shackle of the tradition, a process started much earlier. Here we find the work of a different atelier who is working altogether in a more relaxed manner experimenting with the existing pictorial tradition, and at the same time the patron was possibly not so much quality conscious.We can assign the middle years of the sixteenth century as date for this Bharat kala Bhavan *Bālagopāla Stuti*. The next in chronological order are the folios of two manuscripts first published by M.R. Majumdar.[21] and now in the collection of the Prince of Wales Museum, Bombay. The one earlier at Petlad (Majumdar's fifth series), according to T. Donaldson, was evolved from the classical phase of the Western Indian style.[22] Here the style is highly sophisticated with excellent drawings of cows, trees, kṛṣṇa and the *gopas*. The three peaked cap and Jahangiri turban, and skirts of *gopies*, clock for the *gopas*, a different variety of textile motifs with dots and horizontal lines all indicate borrowings from contemporary society (fig.61). The movements of cows and human figures are slow and leaning towards naturalism as against the striding postures in the Western Indian illustrations. But the angularity of the draughtsmanship, the linear quality. the tall slender stem of trees leaning inward, cows in rows, the lotus flower used as a decorative motif are among many such characteristics which were indebted to earlier traditions. The illustrations of the other manuscript in the Prince of Wales Museum (Majumdar's fourth series) though belong to the same tradition are more simplified in the rendering of human figures and other details. In this series the human figures-both men and women have sharp featured faces with the patol shaped eyes, sharp pointed nose, straight lined forehead and bold chin. This facial type and female's costume type, the ghāghrā with checkered design, small colī, and the transparent oḍhanī worn in the style of its early sixteenth century precursors remind us of the treatment of the Caurapañcāśikā group of paintings, especially the Vijayendra Sūri Rāgamālā. Though the two manuscripts are quite apart in time span at least of a hundred years, still adherence to conventional formulas is distinct. It is not unusual because there are references of artist and sūtradhāra travelling between Gujarat and Rajasthan. The Śatruñjaya

Tīrthoddhārā Prabandha mentions that the repair work of the temple of Śatruñjaya (in Gujarat) was done by the sūtradhāras of Mewar. In Mewar itself we find two illustrated manuscripts of the Western Indian style prepared in the thirteenth and fifteenth centuries.[23] In the same process it is not unlikely that artists from Mewar might have commissioned this manuscript in the late sixteenth century of the Gujarat artist familiar with Mewari traits worked on it.

There is yet another important and complete manuscript of the *Bālagopāla Stuti* with sixty-six folios in the Kankroli collection. This manuscript, as mentioned earlier, belongs to the Matar style of Govind. In the same style, but of another manuscript, are the three illustrated folios in the collection of late Sangram Singh Ji of Naval Garh. The Jagadish and Kamla Mittal collection. Hyderabad also has some folios of the *Bālagopāla Stuti* in the Matar style (figs.56-60). All these *Bālagopāla Stutis* may be assigned to c. 1600-1610 A.D. Since we have discussed the style earlier. we shall now see how the artists in Gujarat in the late sixteenth century were copying from the earlier sets with certain modifications. Although M.R. Majumdar long ago had pointed out this feature but at that time he could not properly distinguish the styles and the time gap and assigned his forth and fifth series (the sixteenth century versions) to the fifteenth century.[24]

For comparison we shall take up an important manuscript of the *Bālagopāla Stuti* of the fifteenth century in the Western Indian style. This copy, in the collection of the Wellcome Institute, London, is almost complete with 63 folios available out of the original 66 folios. The last folio, being the 66th, gives 359 verses providing the authorship and completion of the text. In both the Wellcome and Kankroli manuscripts on their folio 60 verso, there is an unusual representation showing the abduction of Sita by Ravana. The art of story telling is quite vocal. At both the places the story is spread over a full page horizontal leaf divided into six episodes. A comparison between the two suggests copying from earlier scene and also changes due to advent of new painting style. The scenes are divided into two registers. In the upper register of the Kankroli painting Rāma is seated and Lakṣmaṇa is whisking. Sītā seated under a tree finds the golden deer grazing which Sītā persuades Lakṣmaṇa to shoot and finally Lakṣmaṇa shoots at the demon who emerges from the neck of the deer in his grotesque human form. In the lower register first we see Rāvaṇa as a mendicant at Sītā's door and

then running away with Sītā, the demon is stopped by Jaṭāyu and the next scene shows Rāma throws himself on the ground lamenting over Sītā's loss while Lakṣmaṇ stands consoling him. If we compare this visual strip with the Wellcome illustration we find that basically the composition is the same except that in the upper register of the Kankroli illustration old tree type is replaced by the characteristic Narada-Govinda *gharānā* type of trees such as with delicate and extended branches with broad leaves, and in the lower register a significant change is that Sītā is uneasily placed on Rāvaṇa's shoulder while in the earlier version she is lifted by Rāvaṇa's palm. A major change is that in the Wellcome illustration the demon is shown as a wicked and bearded person, dark complexioned which is ignored in the Kankroli painting presumably with a purpose to show him completely comouflaged. Jaṭāyu is seen in a challenging mood and there is no shaft to distinguish the next scene. Of course the gestures are changed.

In the earlier version they are more strident while the Govinda atelier attributed fluidity in the movements. There are minor changes in the background specially in trees, rocks and colour applications too.

There is another full page illustration on folio 2 verse in both the manuscripts i.e. the Wellcome and the Kankroli, showing Kṛṣṇa's shrine in Dvārakā. The poet declares that it is the final resort for a *Yogīśvara*, and a gateway to final emancipation. Again these two pages show how the artist in the later Kankroli version where he had sufficient space for alterations still sticks to earlier prototypes for the Kṛṣṇa shrine and the related surroundings. In both the scenes the city of Dvārakā is surrounded by water channels or sea on three sides. The shrine contains a standing figure of Viṣṇu (possibly Dvārakādhīśa Kṛṣṇa) attended by devotees. The composition is vertically divided into two compartments by the sea, of the other side of which there are other centres of the Hindu pilgrimage, such as, a Śiva temple, Nandī. Gaṇeśa, a devotee prostrates himself with folded hands. In the bottom panel there is a row of devotees praying on the sea-shore. These details are practically the same in both the instances except in the Kankroli folio the artist omitted excess devotees figures and a *tulasī* plant. The battlement is replaced by wavy bands of clouds cutting the comer of the sky.

We find, in fact, in all the versions of the sixteenth century the artist fell

back, inevitably upon the visual models of earlier tradition. Some more examples can be viewed here, such as, Kṛṣṇa embraces a *gopi* in the grove of Bṛndāban (Compare figs. 62 and 59, fig. 62 is from the Wellcome collection and fig. 59 is from Jagadish and Kamala Mittal collection). In the illustration of Jagadish and Kamala Mittal collection the meticulous draftmanship of the earlier example is changed to broad strokes, providing a different flavour to the miniature. the scene is more relaxed having a lyrical mode of expression. Although the artist borrowed the basic scene from the early illustration, yet he has shown some degree of freedom in its arrangement and treatments. Instead of full red background he sued this colour in a pargola format as a backdrop for Kṛṣṇa and the *gopi*. The tree top and the foliage are sketched with free hand drawings which inject an openness to the scene.

Three illustrations in the collection of late Shree Sangram Singh Ji of Naval Garh are very interesting since these have labels written with each figure showing their identity such as Kṛṣṇa, *gopī*, Bilvamaṅgala etc. Though such labels we do not fine in other *Bālagopāla Stuti* illustrations. it was a common practice of the late sixteenth century trend in Gujarat. Figure of Sangram Singh collection shows Kṛṣṇa fondling the breasts of the nearby *gopī*, at the same time the artist sketched the figure of Bilvamaṅgala who with folded hands worshipped his Lord even in his amorous activity since it is a part of his *līlā*. The figure of Bīlvamaṅgala is not present in the earlier painting, in the Wellcome Institute collection, and his presence in the later version shows progression of style within the inherited tradition.

Certain stray leaves of the *Bālagopāla* Stuti of a later version are also reported in the Goenka collection, Patna. The conclusion drawn from the above study shows that there is an 'on going tradition' in the delineation of the Bālagopāla Stuti manuscripts from the fifteenth to the early seventeenth centuries. The artists of the later versions followed the earlier models with utmost care but one cannot miss a degree of laxity in the treatment which is a characteristic of the later development of style. Scenes are obviously simplified, and less emphasis is placed on picking out details. These simplified but bold treatments bring a relaxed atmosphere into the scenes. Taking an overall view of these illustrations, one finds the tradition moving towards an openness.

Refrences

1. O.C. Gangoly, 'A Newly Discovered MS. of Bālagopāla Stuti by Bīlvamaṅgala', Andhra Historical Research Society 4, pt. 1-2, 1929 : 86-88.

2. M.R. Majumdar, 'The Gujarati School of Painting and Some Newly Discovered Vaiṣṇava Miniatures'. Journal of the Indian Society of Oriental Art, No. 10, 1942 pp. 1-31, pl. 5 figs. 1-2.

3. S.M. Nawab. Jainacitrakalpadruma, Ahmedabad, 1936 : figs. 257-267, Moti Chandra and U.P. Singh. New Documents of Jaina Painting, Bombay, 1975 : p. 29, figs. 41-50, col. pls. 8-9

4. M.R. Majumdar. 'Two illustrated MSS of the Bhagavata Dasam Skandha'. Lalit Kala No 8. 1960. pp. 47-54

   U.P. Shah. More Documents of Jaina paintings and Gujarati paintings of the sixteenth and later centuries. Ahmedabad. 1976 : p. 15, fig. 50.

5. ibid. fig. 49

6. ibid.. pp. 16-17, figs. 45-48.

7. N.C. Mehta. 'A new document of Gujarati painting : A Gujarati version of the Gita Govinda'. Journal of the Gujarat Research Society. 7, 1945. pp. 139-146

   Karl Khandelavala, 'Leaves from Rajasthan,' Marg 4, no. 3, 1950, fig. 10.

8. U.P. Shah. 1976. op. cit., p. 16, figs. 58, 60.

9. ibid. p. 17. fig. 44.

10. S.M. Nawab. 1936. op. cit., figs. 257-267; Rai Anand Krishna, 'A stylistic study of Uttaradhyayana Sūtra MS. dated 1591 A.D. in the Museum and Picture Gallery, Baroda,' Bulletin of the Museum and Picture Gallery, Baroda 15, 1958-59, pp. 1-12.

11. Moti Chandra and U.P. Shah, 1975, op. cit., p. 30, fig. 52; U.P. Shah, 1976, op. cit., fig. 2.

12. Rai Anand Krishna. 1958-59, op. cit.,, pl. 1, fig.3 and pl. 6-fig.4.

13. Anand Krishna, "An early Rāgamāla Series". Ars Orientalies 4, 1961, pp. 368-372.

14. M.R. Majumdar, 'Discovery of folio of Bhāgavata Daśsam Skandha, illustrated in the Gujarati style.' Journal of the University of Bomaby, 12, 1943-44, pp. 41-46.

15. U.P. Shah. 1976. op. cit., p. 17, figs. 55-56.

16. S.M. Nawab, masterpieces of Kalpasūtra Paintings, Ahmedabad, 1956, pp. 8-11, pls, I-K; Karl khandalavala, 1950, op. cit., fig. 7.

17. Lalit Kumar, 'Gujarati Painting of the 16th-17th century - A reappraisal," Nirgrantha, no. 1, 1995, pp. 92-104, fig. 10.

18. U.P. Shah, 'Three paintings from a new Rāgamālā set dated saṁvat 1665-1608-9 A.D.", Bulletin of the Baroda Museum and Picture Gallery, no. 25, 1973-74, pp. 89-94.

19. Moti Chandra and U.P. Shah, op.cit., 1975, p. 29.

20. M.R. Majumdar, op. cit., 1942, pl. 5-figs. 1-2; Moti Chandra, Studies in Early Indian Painting, London. 1947. p. 77, col. pl. 8.

21. M.R. Majumdar, 1942, op. cit., pl. 6-fig. 1-2, pl. 7- fig. 2-3; M.R. Majumdar, 'Illustrated MSS of Bilvamaṅgala's Bālagopāla Stuti," Journal of the University of Bombay, no. 16, pt.2, 1947, pp. 33-61.

22. T. Donaldson, 'A Vijayachandakevalicarita painted in A.D. 1499 in the animated style of the Vasanta Vilāsa". Journal, Indian Society of Oriental Art, Dr. Moti Chandra Commemoration Volume : 93-114.

23. The one is the Śrāvakapratikarma Churni dated 1260 A.D. prepared at Aghtapura in Mewar and the other is the Supāśanāhacariyam dated 1423 A.D. prepared at Devakulavataka in Mewar.

24. M.R. Majumdar, 1942, op. cit., p. 29.

❑❑

“संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक”

Rajasthani and Mughal painting
A comparative study

Dr. Saroj Rani

Rajasthan, regarded as the homeland of the Kashtriyas (warrior and ruling castes) lies in the western and central regions of North India. The people of this region used to live a complex set of social relations. They were 'feudal' clans linked by blood, Unlike the urban, bureaucratic Mughal Empire, the Rajput states were dominated by the beings whose roots were in the soils. The Rajputs could not bear the foreigners on their land and were pacified by the Mughals with matrimonial alliances and the highest statues within the imperial system. Most of the Rajput princes joined Mughal imperial services in the sixteenth century.

Though Rajasthani and Pahari artists started absorbing Mughal innovations from the seventeenth century but their art was different in various aspects. Their temparament, attitude and outlook were not similar. Unlike Mughal artists Rajput were anonymous and did not enjoy the high positions of their Mughal counter-part. Mughal art is aristocratic, personal, refined and on the other hand Rajput is popular hieratic and universal. Mughal's art is basically a court art and concerned with court scenes but Rajastani with subjects mostly from the legends and myths of India and religions. Inspire of the power, strength grandeur of the Mughal, the two schools remained apart. S.K. Saraswati rightly thinks Mughal painting formed, as it were, the spinal column of the various schools of Indian miniature. Mughal paintings begin with the miniature and Rajput comes out of Mural art.

Rajput schools has its roots in the Indian traditions, religion and beliefs. There works never entered into fashion. The subject matter of the Rajput paintings is literature, often based on the national epics. The importance of Hindu deities as the subject matter of Rajput painting marked another departure from Mughal art. 'If Mughal art brings to mind history painting and portraiture, Rajasthani and Pahari artists are remembered today for lyrical painting extolling romantic love and the perennial Indian concern with feminine beauty.

Head, Dept. of fine Arts-Punjabi University Patiyala.

Rajasthani artists visualized with the indigenous spirit. The great poets and mystics were very close to the artists. Kabir and Ramananda reached to the hearts of the artists and enthralled them with the deep-rooted meaning of their poetry. They have beautifully illustrated their words. Rajasthani artists lived the romance of life in their own ways. They represent tender eroticism and human love. Two main characters of Radhas and Krishna serve as means to an end. They painted heroes and heroines carrying different type of Rasas and Bhavas. Another favorite subject was the musical modes (Ragas and Raganis) and the twelve months.

Besides ballads and romances, portraiture remained the foremost subject.

The reason was that Hinduism was indigenous and developed on the land of India. Where as Islam arrived in the eighth century, growing to dominate the north politically by the 13th century. Muslims arrived in the sub continental from through out the Near East, bringing with them different cultural background. Mughal art being court art had its own merits and demerits. Many literary works both Persian and Indian were illustrated during the rule of Akbar. The interesting point to note is though the Persian idiom of painting was largely retained, the Indian elements like the flora and fauna, female types, ornaments, costumes, architecture and the native colour sense were absorbed by the Mughal style to a considerable sense.

Coomaraswamy gives more emphasize on the common points of both the schools. He is of the view that two distinctive forms of painting could have sprung up at the same time and both the schools exhibit the same technical traits. It is very clear that Rajput painting developed and flourished in regions where Mughals entered, Mughal painters emigrated. Mughal painting is defined by the styles and subject's common at the Imperial court Rajput paintings consists of many different court styles.

Geographically Rajput painting is more scattered because the Rajput kingdoms found through out Rajasthan, Punjab Hills and Central India. On the other hand Mughals imperial court centered in Delhi and Lahore.

Another important feature of Mughal painting is that it is known as narrative and illustrative. When Akbar decided to patronize book production and invited artists and craftsmen from both local and distant centers. These artists brought

the established traditions in which they had been trained to the Mughal workshops. Mughal art was illustrative in purpose and their developed craftsmanship added into the mainstream of Indian Art.

On the other hand Rajasthani painting is close to folk art. It embodies the traditional beliefs of the community and bears the indigenous character by being cultivated at the courts of the various rulers. Rajasthani painting is more generalized and abstracts, less personal and less dependent on the minute of technique. All the aspects of India culture were already there and not to be learned.

The development of the Mughal School was closely related with the personalities of its patrons. It is sure that the Rajasthani and Pahari schools would not have emerged in the forms in which we see and find them if the Mughal school had not come into existence. Both the schools are known related to each other as they absorbed a number of trends together to show their distinctive form. It is not easy to say that during the formative years the Mughal and the Rajasthani concepts were not in a sort of balanced relationship. The best example is the period of Akbar in which the Rajasthani elements of paintings made their intrusion and similarly the Mughal elements did in the Rajasthani paintings. This happened in all the states, which were in subservient alliance to the emperor.

By the 1570 Akbar had succeeded in subduing nearly all the main Rajput states. He used all the means to win them. He got married into their families and gave them all sorts of commands of his arms. Jahangir's mother was a Rajput princess from Amber. The relations with the Imperial court influenced the culture and customs of Rajasthan from around 1600 artists most them employed artists trained in the Mughal studio. Most of them worked in a hybrid style of Hindu manusript illustrations, which is usually known as Popular Mughal. In the seventeenth century some of the rajas employed more able and expert artists, skilled in the portrait style of the Jahangir and Shah Jahan period. The judicious use of figural modeling and spatial recession as well as the decorative tile work and arabesque borders of the paintings are all Akbari features.

Decay began in the Mughal School in the second half of the 17th century and by the first part of the eighteenth to dominating influence lessened consider-

ably. Rajasthani painting became alert and more assertive in shedding off the subsercience to the Mughal schools. In a few styles it remained visible and dominating till the first quarter of the century, but weakened after that date. Till the middle of the century Mughal compositions are know to have been favorite and some schools found Mughal manner in the paintings of the Rajasthani series.

Mughal and Rajasthani paintings though differing widely but have much in common. The Mughal painters thought they were well versed in Persian and the westerns but they painted like Indians. Rajasthani painting while at the starting of the Mughal period it was little affected by foreign influence.

The smal state of Mewar, now forming an important part of Rajasthan, tying within the inaccessible recesses of Aravallis occupies a place of special distinction. By the end of the 16th century A.D. Mewar painting entered into a definite phase. It has to capital to chavand, which has been established in1585 by Rana Pratap. In the time of Rana Amar Singh some incomplete sets of Ragnies and Bhagawat paintings are in the collection of Sri Gopi Krishna Kanoria and Karl Khandalwala of Bombay were painted at chavand in 1605 A.D. The use of bright colours and the angular drawing of faces and costumes indicate the vertiges of western Indian tradition. It is a well-known fact that Chavand School lost its pre-eminence when treaty occurred between Rana Amar Singh and prince Khurram in 1615 A.D. The result was that art began to grow more individual with an inclination of adopting Mughal style. It ramained true to traditional beliefs and scenes representing daily life. Jagat Singh (1628-1652) was the foremost ruler whose period provide us lots of material. The best example of the paintings has been preserved in National Museum at is period is around 1640 A.D. Here is one of the paintings the hero has been depicted in chakar Jammah that was common in Akbari time. He wears loosely bound turban, which was popular in Jahangir region. The architectural details too resemble to Jahangir's time. Flowering plants and the heroines dress are typically Rajasthani.

Another example of this period is the illustrated Bhagavata Purana, which is a blend of the Mughal and the Rajasthani art. The notable is the illustrated Ramayana now in the Prince of Wales Museum. This is the work of Manohar, which has been done in 1649 at Udaipur in the region of Maharana jagat singh.

In most of the miniatures Rajput and Mughal style intermingled with each other. The drawing of the figures and the treatment of the architecture is Mughal. So far as the consumes, dresses and ornaments of the ladies are concerned there are entirely Mewari. The brilliant use of colour schemes represent a scene of the pageantry of a Rajput procession. The patches of contrasting colours and the tendency towards sumptuousness, the domes of the palaces and the rows of ladies throw light on the on the social life of the medieval period.

Similarly a MS named Asha Ramayana, belonging to Saraswati Bhandar Library, Udaipur, was carried by Mahatam Hira nanda at chittor in VS 1708 (1651/A.D). This manuscript consists the epic tale of Ramas adventure. The artist depicted the tale in pictures particularly the stratigy' and methods of the war betweeb demons and Devatas. The ladies figures are shown wearing Mewari Lahanga, spotted sari and tight filled bodice. They are adorned with the bangles, necklaces, chains, karnaphul, payal and hansli etc.

The whole story of Ramayana has been narrated through paintings in a beautiful manner. The interesting are the characters of Ravana and Lakshmana who appear like Mughal generals. The palaces too represent Mughal architecture with Rajput taste and technique. The balcony brackets and Gumbaj represent blend of Mughals and Rajasthanis.

Poetry, music and drama of this period have also been illustrated. Dr. Motichandra writes about the miniatures of Raga Mala in the collection of National Museum, New Delhi. In one 'Ragini Vasanta' Krishna is dressed in the costume, which was commonly worn by dancers at the Mughal and other India courts..... In this the brilliant lacquer-red, which is so effectively wed by the early Mewar artists, is seen to great advantage.

The women of jagat Singh period in the paintings are in exact likeness of Mewari ladies with round and oval faces, fish-shaped eyes, firm breasts and shoulder waists. The common men of this period are the representatives of simplicity. Hills and rocks follow Mughal traits. Birds and animals reveal their origin, though contacts with the Mughal School are visible in the realistic details of horse and elephants of Shah period. Nature is simple, direct and spontaneous. Colours like lacquer red, saffron and yellow express primitive force of

Mewari paintings. The traditional belief and religious symbolism is the fragrance of Mewar School but with the passage of time it assimilated Mughal traits. There traits are noticeable in the Gherdarjama with patka (waist sahs), Atpati turban Jahangiri and Shahjahan Pagri, Chakdar Jaka, transparent choli and orhani. The patka (waist sash) is long and decorated with stripes or geometrical patterns reminiscent of the patkas of the Akbar period. The women wear usually wrapped in plain or flowered skirts, cholies and transparent odhinis (wimples).

There are varieties within the Rajasthani School but when we see on the large canvass the same spirit and tone dominate in its own way. The notable states like Bundi, Kota and Kishangarh have shown their individuality and traits. Bundi and Kota represent oneness but Bundi is different because of political reasons. The Hara Chiefs of Bundi belonged to the clan of the chauhan Rajputs, whose original home was at Sambhar near Ajmer. Though often at fight with Mewar and Malwa, the Haria Rajputs were vassals of Mewar. They had relationship and marriage alliance. Rao Surjan Singh obtained Ranthambor and Akbar realised that it was impossible to acquire achievements without the possession Ranthambor.

The existence of Bundi style in the seventeenth century is well read by the sumptuous painting in a manuscript of the Bhagavata Purana and a large number of Ragamals sets in the various collections. The Bhagavata Purana has been executed in 1640. This was the time of the raja Satrusal who supported Jahangir. He was executed by Khurrams, who, as the emperor Shah Jahan, made him Governor of Delhi, executed him. the paintings of 1640 are characterized, by a largeness and vigor of designs and at the same time a tender feeling, particularly because of the treatment of the subtly modeled and sophisticated human type, especially of the women. The colour scheme, varied and at the same time rhythmically balanced is respect of the figure, their dresses and landscapes with lush vegetation in the background is extremely pleasing. Some paintings prepare the ground of a Bundi school during the seventeenth century. This was the region of Rao Ratan Singh who received many titles and favors from Jahangir D. Gray rightly observed,' certain elements in Mughal painting of the late akbar period have taken the artists fancy, with the result that his treatment of natural forms is more precise and careful though never allow to qualify the intention of his designs.'

Raga Dipaka in the collection of Bharat Kala Bhavan and a Bhairavi Ragini in the Allahabad Museum represent the period of Rao Ratan Singh. Both men and women in these two paintings have an archaic look. There figures are the reminiscent of the Chawand Ragamal but quite distinctive. The brilliant use of the colours is not found at Mewar, but not unlike that of Decani paintings. The reason was that Rao Ratan Singh had been appointed Governor of Burhanpur during the deccan wars.

Some primitive Kalam developed under Raja Ram Singh (1686-1708 A.D.) and Raja Arjun Singh Kota is the best example. Women are shown with fish-typed eyes and the architecture tallies to Chawand style. Kota style matured under Raja Umed Singh 1771-1820. A.D. whose reign gave preference to painting activity. The trees, hills, human beings, animals etc. are all simplified. Under Raja Ram Singh (1828-1866. A.D.) the tumulus energy and restlessness goes to the Mughal.

In the second half of the seventieth century patronage at Delhi began to decay especially during the bigoted ruler Aurangzeb. Those Rajput chiefs who were associated with the imperial court seem to have invited may of the unemployed Mughal artists to enter their own service.

Bikaner was founded in 1485 by A Rathor prince from Jadhpur. As early as 1544 its ruler kalyan Singh gave his daughter in marriage. His son Rai Singh (1571-1611) was the first Raja of Bikaner was dedicated to Akbar. His sons Karan Singh (1631-1669) and Anup Singh (1669-1698) continued to serve the Mughals in the North India and the Deccan. About 1650 Ali Raza of Delhi painted a dream of Karan Singh. It is decorative, full of craftsmanship.

In the late 17th century migrant Muslim artists families had worked in a Mughal derived style. The influence of the Mughal style under jahangir.

A more musical and lyrical fusion of the ardent sentiments of Hindu devotional poetry with the polished 18th century. Mughal style happened at kishangarh, whose ruler Sawant Singh himself was an accomplished poet and painter. An individual style of painting flourished here. A poet prince Sawant Singh Known as Nagri Dass ascended the throne of Kishangarh in 1748. Nehal chand was his gifted painter. Depending on the early century Mughal technique and composi-

tion, Nehal chand created a visual presentation of his patron's lyrical passion.

Jodhpur was ruled by the Rathor family, a branch of the chauhan dynasty founded in 1212. During the Humayun's slow procession into exile, the Mughal ruler was briefly offered refuge at Jodhpur and that may be one reason why Sher Singh attacked and claimed Jodhpur territories. Rao Maldeva Rathor (1531-1562) recaptured the land after Sher Singh. Immediately the young Akbar seized. The greater part of Jodhpur and this attack had been helped by Ram Singh, the elder son of Maldeva. With his daughters marriage to Salim, Udai Singh (Maldeva's second son) and he sucessor became important member of the Mughal impire. Raja Gaj Singh (161-1635) had the highest rank possible for a Hindu at the Mughal court under Jahangir. Maharaja Jaswant Singh (1635-1678) of Jodhpur was an important patron of painting. In his painting 'Maharaja Jaswant Singh of seems to have been felt. They illustrated Bhagavad Purana, Rasika Priya and Raga-Ragini texts. Basil Gray compared Bikaner craftsmanship with the Mughal manner. The strong use of the bright colours like blue, green and red goes to Mewar but the tuft of grass are from Mughal miniatures. The portrait of Raja Bhoj Rathore dated 1606 A.D. bears Deccani styles with due adaptation to Rajasthani patronage. The architecture follows the Mughal influence it is notable that some Mughal painter settled in Bikaner in later of the Seventh Century. One of them Rukn-ul-din was the greatest artist. He was fond of portraits. The best example is the Maharaja Anup Singh (1690 A.D.) He is seated on the back of a horse in Mughal manner. The delicate greens of the earth and the sky gray and the white-topped palaces are derived from Mughals.

Kishangarh was founded by Kishan Singh 1609-1615 a son of Raja Udai Singh of Jodhpur he was given high amount by Jahangir. The state progressed during the seventeenth century Roop Singh 1644-1658 being a favorite of Shah Jahan for whom he served in Afghanistan. In the first half of the eighteenth century Raj Singh 1706-1748 his eldest son Sawant Singh born in 1699 ruled the state , around which Kishangarh painting centers. In his youth he supported the cause of the emperor Farrukhsiyar (1713-1719) and remained in the good books. Jodhpur and Courtiers' is an unfinished sketch for a Darbar scene and his subject is sufficient to know the strong influence of the Mughals.

During the second half of the seventeenth century portraiture and genre scenes of the Mughal type were introduced at all the main courts with varying degrees of adaptation to the Rajput vision. Jaswant Singh of Jodhpur who was deeply associated with the imperial service, choose to patronized work in a strongly Mughal style. The Dhola Maru, done under Raja Sur Singh (1595-1620 A.D.), shows the Jahangir style turban on the head of the warrior Dhola Rai. Dola Maru romance in the collection of Jodhpur palace, which is full of sophistication, which entered into Rajasthani, courts through Mughal emperor. Indigenous style seems to here continue at the same time as the Mughal influence was being accepted. After 1726 A.D. the inter mingling of Mughal and Rajasthan style is very interesting the portraits of this period 1700 A.D. is plainly and clearly in the dominant Mughal brush work. The vigorous sweeping curves and contours of the horse and heroism in the personality of the king reflect the dignity of the Rajputs. Most of the Jodhpur pictures derived from the independent connections with the Mughals.

In the region of Shah Jahan Mughal painting retained its quality but the style became overripe. In the period of Aurangzeb Mughal painting suffered asset back because Mughal artist started migrating to provincial centers to fond new patronage. A revival of Mughal paintings took place in the regions of Farrukhsiyar and Mohammad Shah. In the later half of the eighteenth century Mughal painting again started deteriorating and by the first quarter of the Nineteenth century. It died out due to lack of patronage.

A number of Mughal painters in the Mughal atelier at Agra, who were no longer required migrated to the court of Rajasthan to find new patronage.

Mughal and Rajasthani paintings added a new glory and dignity to school of Indian Painting. Both maintained their identity and came out with a new spirit in the arena of Art.

❑❑

“संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक”

Jain Monumental Paintings Of Ahmedabad

Dr. Shridhar Andhare

Pilgrimage is one of the primary institutions in India, which has exercised deep influence on the minds of the people of all dimensions. According to Kāśī Khaṇḍa of the Skanda Purana[1] there are two kinds of tirthas namely, Manasa tirtha and the Bhauma *tirtha* i.e. spiritual and physical holy places of pilgrimage. It is said that those whose minds are pure, who are men of virtue and those who are self controlled and saintly beings sanctify the places they visit and the places themselves become tīrthas. In the tīrtha yātrā chapters of the *Mahābhārata*[2] the essence of all pilgrimage is mentioned.

The ancient Jain tradition, rich in its system of philosophy, religion and ethics presents in its tirthas an equally interesting cross section of Indian cultural heritage. This vast material is recorded in the Tīrthamālā, or the memoirs of the Jain pontiffs, of the Saṅghas. Practically all the great centers of civilization were included among the Jain tīrthas such as Mathura, Kāmpilya, Ahichhatrā, Hastinapur, Rājagṛha, Kauśāmbī, Ayodhyā, Mithilā, Avanti, Prathisṭhāna, Champā (Bhagalpur), Pāṭaliputra, Śrāvastī, Vārāṇasī, Prayāg, Nasikeya, Prabhās, Dwārika and many others.'

Ācārya Jinabhadra Sūri (c.14th cent. A.D.) records the Jain religious tradition in his Vividha-Tīrtha-Kalpa, a compendium of hymns and stotras which were composed by the wandering religious teachers. It constitutes a valuable account of their literary activities and provides a religious history of the Sanghas. The heads of such pilgrimages were called Sanghapatis who organized such activities under the guidance of some spiritual teacher or Ācarya and undertook its financial responsibility. It is this pious act which earned them the title of *Saṅghapatis*, *Saṅghavī* or *Saṅghī* in Hindi. Gradually this concept gave a great impetus to the *tīrtha yātrā* activity among the Jain community and achieved for if a vitality and continuity. Thus, it is apparent that like other sects, the Jains also had and still have their tīrthas all over India. They are invariably located on

---

सेवानिवृत्त प्रोफेसर गुजरात विश्वविद्यालय, गुजरात

picturesque hilltops which are difficult to access, but which provide undoubtedly, the most natural surroundings for concentration. Famous among them are Śatruñjaya and Girnāra in Gujarat, sammeta Śikhara in Bihar and Aṣṭāpada (the exact location of this *tīrtha* in geographical terms is not clear).

It is customary for the Jains to visit the tīrtha of Śatruñjaya at least once in their lifetime to gain spiritual wisdom because this tīrtha is most sacred to them. For those who are unable to visit the *tīrtha*, the Jains created a tradition of commissioning such painted Paṭas (cloth banners) which illustrat the *tīrthas* in a symbolic and cartographic manner. A number of such banners have been published by the author in the recent catalogue of 'The Peaceful Liberators'[3] These banners are hung oriented toward the direction of the Śatruñjaya hill, at sacred Jain locations such as temples, upāśrayas (temporary resting places for itinerant Jain monks and nuns) and other such institutions on the day of Kārttika sud *punam*, i.e. on a full moon day of the month of Kārttika (October-November) for public viewing. On this day thousands of devotees visit and worship the Paṭa and the tīrtha of Śatrunjaya is thrown open to all from this day. As a result of this religious belief wealthy Jain families often commissioned painting of tīrtha Paṭas mainly on cloth. Therefore we see a number of such banners surviving even today. Moreover, such Patas were also made on wooden planks, in plaster work on temple walls and also carved in stone in low relief, to be displayed inside the temples. The earliest examples of these can be seen at the Osiāñ and the Rāṇakpur temples in Rajasthan which date back to the 11th and 15th centuries respectively.[4]

It is generally observed that smaller *Pañchatīrthī Paṭas*[5] i.e. banners showing five tīrthas, were of early dates and were by and large preserved in folded or scroll forms for easy portability. Subsequently the size of the Patas became large as they were intended to be displayed in Jain public places for big audiences. Some of these Paṭas bear inscriptions mentioning the place, time of creation and also the names of the benefactors etc. Two such interesting speciments of Vividha Tirtha *Paṭas*[6] are discussed here in detail.

Both the *Paṭas* are in a vertical format, the longest one measuring 4.54-1.20 m. of the Samvegi Jain Upāśraya and the other somewhat shorter measuring 3.54-1.08 m. of the Ānandjī Kalyāṇjī Peḍhī in Ahmedabad. These dis-

play identical subject matter and illustrate various *tīrthas* in a symbolic manner. Both have extensive colophons and Sanskrit text related to pictures on the Paṭa describing each, line by line. Such a practice is noted here for the first time.

Apart from mentioning the name of the benefactor as Seth Śāntidāsa of Ahmedabad, the Jain magnate of the Mughal period,[7] the scribe mentions a succession of the great Jain monks of the late Akbar-early Jehangir period starting from Shri Hiravijayjī to Vijayasena Sūri to Rājasāgar Sūri to Buddhisāgar Sūri and others by whose commands the Paṭa was ordered by Seth Śāntidāsa. The end of the long colophon mentions the following in Devanāgarī script. "स्वस्ति श्री विक्रम समंत 1698 ज्येष्ठसित..... महाराजाधिराज पातशाह श्री अकबर प्रतिबोधक.... श्री हीर विजय सूरि पट्टोदय गिरि दिनकर.... भट्टारक श्री विजयसेन सूरिश्वराणाम् जगभरित (?) भट्टारक श्री राजसागर सूरि चरणानाम् युवराज भट्टारक श्री बुद्धिसागर सूरि प्रमुखानेक, वाचनादि चतुर परिकर चरणानाम उपदेशात अहिमदावाद वास्तव्ये ओसवाल ज्ञातीय श्री चिंतामणी पार्श्वनाथ प्रसाद धर्म कर्म निर्माण (निष्णात) शा. श्री शांतिदासेन सकल मनुष्य योग्य, पंचभरत, पंचैरावत, पंच महाविदेहासीता, नागता (?) वर्तमान 20, विरहमान 4, शाश्वत जिनशाश्वत जिन तीर्थपट। श्री शत्रुंजय, गिरिनार, तांरगा, अर्बुत, चन्द्रप्रभू, मुनि सूव्रतः श्री जिराईला पार्श्वनाथच श्री नवखंडा पार्श्वनाथ, देवकुल पाटक, मथुरा, हस्तिनागपुर, कलिकुंड, कलवृद्धि करहाटक, साचोर आदि नाम युक्त....सप्त विषत इदम्"

Though the last few lines of this colophon are not legible, the rest undoubtedly confirms that the Paṭa was commissioned by Seth Śāntidāsa living at Ahmedabad in A.D. 1641. The Saṁvegi Upāśraya Pata has also similar text but certain portions have been left blank. However both colophons need detailed study.

From this elaborate colophon it would be apparent that Seth Śāntidāsa was a devout Jain and spent his great resources freely on purposes enjoyed by his faith. His career and activities flourished during the regions of Emperor Jehangir and Shah Jahan and his great resources as a financer, and his business connections with the imperial court as a jeweller, enabled him to enjoy considerable favour and influence at the imperial court at Delhi. He had attained a vary high social position and was made the first 'Mayor of Ahmedabad' by social voice. During the course of his magnificent career he built the temple of Chintāmaṇi Pārśvanātha in a suburb of Ahmedabad.

According to Chintāmaṇi Praśasti,[8] a Sanskrit verse, written in A.D. 1640,

on the basis of the original copy found by Muni Jinavijayaji in Ahmedabad, the construction of the temple began in A.D. 1621 during the reign of emperor Jehangir by Seth Śāntidasa and his brother Vardhamāna. In view of Jehangir's happy relations with Jain leaders and his religious tolerance, the construction of the temple was finally completed in A.D. 1625. This monument was seen by an itinerant German traveller Mendelslo, who confirms that after his visit Aurangzeb converted this temple into a masjid. Another French traveller by the name of M.de Thevenot visited the city in A.D. 1666 and he writes that, 'The inside roof of the mosque is pretty enough and the walls are full of the figures of men and beasts etc. This brings to light the fact that there was painting activity in Ahmedabad in the early 17th century. Moreover, Shah Jehan also issued a number of *farmans* in favour of Śāntidāsa which throw significant light on the activities of that period. A detailed study of these documents is on the way.

In yet another instance quoted in the Jain *Rāsamālā*[9] which, apart from giving a vivid account of Śāntidā's career, mentions in Gujarati that, 'He had god made several tīrtha paṭas of siddhācal and other from emperor Akbar'.

"महान अकबर अने जहांगीर बादशाह पासे तेमनू सारी रिते मान हतु अकबर बादशाह पासेथी तेमणे सिद्धाचल तीर्थादिना पट्टाओ करावी सीधा हता" (Gujarati)

It is well known that Ahmedabad and Patan in Gujarat have been prolific centers of Jain and secular paintings on paper and cloth till about the middle of the 15th century. Of these the Champaner Pañchatīrthī Paṭa[10] of A.D. 1433 and the Vasanta *Vilāsa* scroll of A.D. 1451[11], painted at Ahmedabad are the major landmarks. It is very likely that due to the frequent visits of the Mughal royalty in and around Gujarat in the late Akbar-early Jehangir period the practicing Gujarati painters shed some of their earlier characteristic features and adopted new conventions of dress and landscape as evidenced by the Matar Saṅgrahaṇī Sūtra of A.D. 1583[12], now in the collection of the L.D. Museum in Ahmedabad. At the same time the cultural scenario of Ahmedabad appears to be gradually changing. Obviously Seth Santidasa's cordial relations with the imperial Mughals at Delhi may have brought about certain changes which are reflected in the arts and crafts of that period. Art of miniature painting in particular shows a new understanding in the first quarter of the 17th century in the so called popular Mughal documents but with a strong Rajasthani and Gujarati flavour. This mate-

rial was discovered and published in the last two decades. Of these the Ms. of *Anwar-i-Suhaili* of A.D. 1601[13] painted at Ahmedabad, the Cowasji Jehangir folio of *Gīta Govinda*[14] and a set of horizontal *Rāgamālā* paintings[15] published by Saryu Doshi and Tandon in Marg and the latest set of *Bhāgavata Purāṇa*[16] discovered by the author may belong to Gujarat or may at least have been painted in Gujarat up to c. 1650 A.D.

In respect of building activity of Gujarat in the early 17th century, especially at the mosque of *Sarkhej ka Roza* in Ahmedabad, there are remains of wall paintings above the arches and on the interior of tombs of some of the subsidiary mosques in the contemporary Mughal style, which stylistically resemble the two Sūri Mantra Paṭas of the early 17th century, published by Sarabhai Nawab[17]. Though these Paṭas have been lost they impart a glimpse of the style that prevailed in Ahmedabad in the early17th century A.D.

The Paṭa from Prāchya Vidyā Pratiṣṭhana, Paladia, Ahmedabad which represents *Vividha Tirthas* again is an example of the type of painting that was done at Ahmedabad in the early 17th century A.D. It is curious mixture of Mughal and Jain elements with male and female figures clad in contemporary Mughal costume. The next two large vertical Patas from Samvegi Jain Upāśraya and Anandji Kalyanji Pedhi respectively, hereafter called no. I and no. 2 are quite similar in many respects and are perhaps painted by the same hand at the same time. They are divided into four parts horizontally. The only difference being that the first has the colophon on the top whereas the second has it at the bottom.

The general arrangement of Patas shows the ground completely filled with smaller rectangles of different colours showing seated Tīrthaṅkaras and other deities in rows numbering 904. The first register from the top has a Sikhara shaped arrangement with ascending steps having rectangles filled with cosmological calculations, smaller and larger temples and other figures etc. The second register has two *tirthas* Śatruñjaya above and Girnāra Garh below, divided by a second line of boundary wall. The drawing and painting in this square are similar to what one observes in the Mewar Rāmāyaṇa of 1649 A.D. by Manohar. This does not appear to be very far in date from the Paṭas presently under discussion. In this semi-stylized landscape the artist has tried to give a number of symbolic and historic details which can be interpreted. It shows a number of

temples. Kuṇḍas, lakes and other details. The last register has various other *tīrthas* including As ṭāpada and Sammeta Śikhar. However the arrangement here is so complex that it becomes rather difficult to identify. However the following; Śri Śatruñjaya, Girnāra, Tāraṅagā, Arbhuta, Chandraprabhu, Muni Suvrata, Sri Giraila Pārśvanātha, Kalavriddhi, Karahataka, Scahor places are included in the text. The last example is late and belongs to the Anandji Kalyanji Pedhi.

Reference :

1. N.P. Joshi, Skanda Purāṇa (Marathi Trans.), Sake 1905, Pune. See kāś'ī Khaṇḍa *(Uttarārdha)*, pp. 197-252.
2. *Mahābhārata, Āraṇyaka Parvan*, ch. 80.
3. Pratapaditya Pal, 'The Peaceful Liberators', *Jain Art from India*, LACM 1994. See. Shridhar Andhare, 'Jain Monumental Paintings.'
4. U.P. Shah, 'Vardhamāna Vidyā Paṭa.' *JISOA*, Vol X, 1942, pp. 42-51.
5. Shridhar Andhare, 'A Note on the Mahāvīra Samavasaraṇa (Paṭa)', *Chhavi I* - Golden Jubilee Volume, Bharat Kala Bhavan, Varanasi, 1972.
6. U.P. Shah. *Treasures of Jain Bhaṇḍāras,* L.D. Series 69, Ahmedabad 1978, col. pls V and VI; B+W pls, 131-133. Also see Shridhar Andhare, 'Painted Banners of Cloth: Vividha Tīrtha Paṭa of Ahmedabad', *Marg.* Homage to Kalamkari; Bombay 1979, p.40.
7. M.S. Commisseriat. *A History of Gujarat*, Vol,II. Orient Longmans. Bombay, 1957, ch. XIII, p. 140-143.
8. op. cit.
9. Jain Rasamala (Gujarati), Pt. I., Srimad Buddhisagarji Grantha Mala, No. 24, Bombay 1902, p.8.
10. Moti Chandra, *Jain Miniature Painting from Western India*, Ahmedabad, 1949, Figures, 177, 182, also see N.C. Mehta, 'A Painted Roll from Gujarat, A.D. 1433 *Indian Arts and Letters*, Vol. VI, pp. 71-78.
11. Norman Brown, *The Vasanta Vilāsa.* New Haven 1963.
12. Moti Chandra and U.P. Shah, New Documents of *Jain Paintings, Mahāvīra Jain Vidyalaya.* Golden Jubilee Volume, Pt. I, Bombay, 1968, p. 356.
13. R. Pinder Wilson, *Paintings from the Islamic Land.* Oxford, 1969, pp. 160-171.
14. Karl Khandalavala and Moti Chandra, *Miniatures and Sculptures from the late Sir Cowasji Jehangir Bart,* Bombay 1965, col. pl. D, Fig. 69.
15. Saryu Doshi and R.K. Tandon, *Marg.* 1981, Notes.
16. An Illustrated ms. of Bhāgavata Purāṇa. Private collection. Unpublished.
17. Sarabhai Nawab, *Sūri Mantra Vidhi*, Ahmedabad, 1971.

▢▢

Bundi Miniatures

Dr. Jiwan Sodhi,

Bundi, one of the pioneer art-styles of medieval Indian miniature art, not only discovered a stylistic distinction of its own but also had a wide range of themes and in some of them greatly excelled. As its style influenced various styles of Indian miniature art, so did its themes, more particularly its depiction of love. It is in its depiction of love that Bundi miniatures attain their lyricism, emotionality, aestheticism, spiritual fervour, and primary appeal. Love gives to Bundi miniatures all their dimensions and delighting perspectives, as it is in tune with its theme that a Bundi miniature discovers them. Romanticism is the mood of Bundi miniatures and love-divine or sensual, their spirit.

In Bundi miniatures, love sprouts gently like petals of a rosebud. As lightening remains concealed behind clounds, and bursts into a colourful glow when clustering clouds strike, or rather embrace each other; so when loving ones meet, love bursts in Bundi miniatures. But, it then becomes their primary glow and glory, their body and sole, and the primary concern. Sometimes its depiction is bold or a little violent but sometimes it manifests in a coy maiden's eyes, in Krishna's tickling Radha, or a Gopi's teasing Krishna by an empty pot which he snatches from her hands thinking that it is all full of butter.

Bundi artists, aware of the significance of love in life, particularly in the life of Rajasthan, discover the prime appeal of their art in love, and taking a little more liberty, in eroticism, depicting sometimes various stages of love making and amorous dalliance including depiction of physical union. Love, as the theme of art, and perhaps as much the theme of Rajasthani people, who 'fought with great valour and loved with unique warmth and zeal', has so much overpowered Bundi miniatures that whatever their theme, love is their fragrance, their essential spirit, and their entire being. Bundi artists attempted to discover in depiction of diverse themes a situation of love and amour.

The Bundi artists, as also the artists of its brother state kota, might discover a situation of love even in a sport, or hunting expedition. In such depictions, love often transcends human barriers and reach animal kingdom. In a kota painting,

---

एसोसिएट प्रोफेसर फाइन आर्ट्स बी.बी.के,डी.ए.वी. कॉलेज फार वीमेन, अमृतसर

Rao Jalim Singh Jhala goes on tiger hunt, but finding a lioness feeding her cubs, and the father lion sporting with them, the enchanted hunter puts his gun away and watches this drama of divine love mesmerised. Love defeats violence. In several Bundi miniatures this love across barriers is their prime thrust. Royal ladies seen feeding fish or sporting with a peacock are not scenes of sport, but manifestations of love, the love of human beings beyond the realm of man.

The Bundi artists have used primarily four sets of themes for depicting love---conceptual themes, the Baramaas and Ragaa apiades from the mythe and legends related to the lives of Shiva and krishna, the Divine lovers, haremlife, and the life episodes of common man. Baramasa paintings, depicting man's emotional reaction to nature's month-wise changing cycle, are usually the depictions of love, whether the love in separation, or in union. The separated maiden pines every day to meet her lover who is away sojourning in far off lands, and she who is with him finds in this changing cycle ever fresh and renewed impetus. In some innovation, Bundi artists have discovered in Radha and Krishna, their motif figures, some delightful situations of love in union-seated in a pavilion watching clouds gathering in sky, lighting fire-works and the like.

The Ragamala paintings are to the Bundi artists the most potent vehicle for representing various situations of love, both of separation and union. If Ragini Todi, Ragini Kukubh, Ragini Gaudi, and some others depict the separated one pining to meet her love who is away in far off lands, Raginis Varari, Madhu-Madhavi, Vibhasa, Vilavala, Basant, Raga Bhairava, Hindol, Malkaunsa, Raga Megha, and others depict lovers in union. There is a wide range of love situations which Ragamala paintings depict. With the arrival of Basant, it might burst as flowers in nature, or as Ragini Vilavala the heroine, impatient to meet her lord, begins her make-up much before the sun has set.

Unlike Pahari artists who discover Shiva in almost all situations of love, the Bundi artists used him with restraint, which they should have for a divine being. It is mostly through Ragas, mainly the Raga Bhairava and Ragini Madhu-Madhavi, that they have represented him in love mode. Raga Bhairava is considered the first Raga in Indian musical system, and being the Adiguru of music Shiva represents it. Hence, in the representation of Raga Bhairava he is sometimes represented alone. But, Bundi artists preferred to paint him with his consort in an amorous mood.

It is, however, in various episodes from the life of krishna that the Bundi artists discover the ultimate of love. One may hardly conceive a situation of love which the Bundi artists have not discovered in the love of Radha and krishna. Not that Gopis could not protect their pots of butter from him but they wished krishna snatched them and ate butter from them. But, love has a different course too. A gopi decides to play trick. She brings an empty pot. As usual, Krishna snatches it, but finding it empty throws it away and leaves. Gopi goes after him teasing and perhaps persuading him to go with her as she has a lot more at home. Krishna tickles Radha, massages her feet, applies Mahawara, dresses her hair and indulges in other games of love.

Bundi artists often strive to make a religious subject highly romantic and charge it with emotion. The element of eroticism in religious theme is a unique phenomenon of Indian miniature art as in it the ephemeral is seen elevating to spiritual heights. In paintings depicting human love and romance. Stylistically speaking, they represent shiva and krishna and their consorts, the divine beings, not as gods but as men and women living his next door.

Bundi paintings reveal dozens of situations of human love, both relating to nobility and common man, to also include firangis who have been largely painted or caricaturised at Bundi and Kota. Rasikapriya, the poetry of medieval poet keshavadasa, has been the most potent source of love paintings in Bundi art. Bundi painters used poet's imagination to discover various situations of love for their figures. Rasikpriya as much inspired krishna's theme and iconography. Hence, Rasikpriya has been the most widely used source for Bundi artists. In situations of love, common man is in dual role. An ordinary maid is represented as consoling a desperate maid and sometimes aiding her to meet her lover. These maids are seen as instrumenting various situations of love in hearem life. But, besides, common human beings, though only rarely, are represented also in independent situations of love. Besides, Bundi and Kota artists have serialised or painted isolated folios of various popular romances, that of Baz Bahadur and Rupmati and Laila and Majnun in particular. Love is, thus the essence and the very spirit of Bundi miniatures.

❑❑

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

The Paintings Of Siva In Indian Miniature

Dr. Chitralekha Singh

Earliest art of painting in India goes back as far as 20000 B.C. in the form of rockart spread over from Northern Hills down to the Southern Ones. Rock art was followed by Cave are covering the Eastern and Western Boundaries of this Country. This was followed by Court art. An appreciation of or bias for the colossal was really the guiding spirit of all forms of Visual art and painting in ancient India. The idea of paintings and sculptures originated from the urge to illustrate religious sermons, whether Brahmanic, Buddhist or Jania. So when in later deep, those religious sermons came to be written down in the form of Manuscripts, the same idea of illustrating the religious texts created paintings of innumerable forms and varieties. King Dusyanta's painting of Shakuntala, portrait of king Udayana and Sagarika in Saharsars Ratnavali, portraits of udayna and vasavadatta in Bhasa's.

Svapnavasavadatta, fables of painting made by masters of magic by Devas, Yakshas and Nagas followed later the decoration of the palaces and the execution of murals, frescoes came under royal patronage. Ever since the ninth century AD, a good number of miniature painting or manuscripts paintings became very muck in vogue in different deities under the Tantrik Mahajana Buddhism, created a number of subsidiary deities endowed with mystic powers and it became necessary to lay down their forms in the manuscripts, along with the relative texts. In later days, broad and vital ideas of the textual matter also started assuming linear forms in different types of manuscripts, resulting in miniature paintings in different Buddhist and Jaina manuscripts on palm leaves and birch bark etc. The content the subject matter of that period Indian art, very large ideological, mythological and symbolic and drawn from.

Imageris were meaningful to Indians themselves, were thoroughly unfamiliar to muslim and later Britishers eye and their minds. So this ancient miniature art went into obsecurity and piled up in some temple godowns or later libraries. This basic, imaginative, aesthetic and formal values of Indian art, prevented European understanding for a vary long time. It is now that the value of this art is being

Head : Deptt. of Fine Arts Agra College, Argra

realized now and these painted manuscripts are being procured as a very heavy cost.

Before the advent of miniature paintings on a wider scale, port, portraih paintings were much in practice. A few examples being many portraits by chitralekha, vajragarha lokesvara prajana paramita (1100. Pala Period), Boddhisattava Manjusri (Pancharaksha 1105 Nepal); Parasavantha and Indra (kalpasutra 14th Century); a group portrait in malavikagnimitram, series of picture painting of Rama's return from exile (Bhavabhuti's uttara Ramacharita), The writers on traditional Indian arts of Sculputre and painting, dance & drama, music and poetics, believed in general, that what deal with moods and feelings, with states of being was the best and highest in art. The did not reject other things, indeed everything had its place in art, and was potentially capable of giving delight at various levels of human consciousness. They, too, are aids of heightening and deepening the appeal to the moods and feelings of the human mind, which to the earlier critics was the ultimate objective of art. In later centuries with the arrival of invaders and market demands, the objective transformed.

Gupta art in the North and Satvahara vakataka art in the south mostly developed the iconography of the Hindu Gods and of the Buddhist Heaven and magical tantric deities. After the decline of Gupta culture, Indian art disintegrated into five styles; the kashmir style starte in the 8th century with huge building and gigantic pictorial works, which degenerated after the middle of the 10th century into a rococo of decorative wood carvings and pretious painting, finally taken over by the Tibetans. Bengal, under the Palas, the last stronghold of sivaitic reformed Buddhism with a teeming pantheion, refined late Gupta architecture and sculpture into highly decorative icons, under the sena kings, were also used for hindu gods. The fragments of paintings from the temples in the Deccan and Southern India inform us about the progress of painting in that part of the country, in Northern India almost all the traces of medieval painting disappeared. In the pala period (9-10 centuries AD) Bengal and Bihar evolved a very strong art tradition, which penetrated into Nepal and thence to Tibet. Devapala and Dharamapala (8th and 9th Centuries) with their artists Dhiman and Bitpalo; Hasuraja school in kashmir, sringadha school in Gujarat, Rajasthan and Malwa, Jaya Parojaya and Vijaya in the south introduced linear draughtsmanship and minia-

tures came into vogue. The draughtsmanship, when the work is of a refined order, can be firm and careful, though owning to the small format in a miniature, it can never achieve a real bold sweep of line which is to be found in the best murals.

Paper, though introduced in 11th century yet it was not taken in greater use till the 14th century, when jana manuscripts with miniature figures were produced viz kalpasutra and kolakacaryakatha (mid 14th century) since it was the rule of shahi kings (muslim sultans) the manner of mongoloids figures, of Persian art and culture, are seen in the miniature paintings of the manuscripts. By the later half of 15th century (1465), lyrical rendering of themes in manuscripts. By the later half of 15th century (1465), lyrical rendering of themes in manuscript illustrations became the aptitude in miniatures. Niamat Nameh of Malwa (1500) Azanja Pawan (1516), ADI Purana (1540) Laur Chanda, Illustrated Mirgavat of the Sultanate period represent human figures, architecture, landscape thattypical Afghan costumes continued in Sultanate School, which played its part in the formation of Mughal School of Akabar. Hardly any miniature paintings on 'Siva' were produced in Sultanate, Gujarat (Western Style).

God Sive during the earlier 15 centuries had been preferable worshipped in Southern India, do we find murals relating to Siva in ancient temples viz Meenakshi------------------and most of the temples in South India. Later when the God found no calm and quiet peaceful place for his yogic activities in the south; the God is said to have changed his abode in the North mountaineous regiouns and settled as Amarnath (Kashmir) Kashmir saivism and art activities on Siva developed in these areas. Earlier Mughal rulers (before Amongzele) loved art of painting and beginning with illustrating Hindu Scriptures (Akbar period), appreciating paintings by Hindus (Jehangir), Sufis and saints (Shahjehan) etc continued. In Mughal School of Akbar, there were many painters, both muslims and Hindus and their families continued service in the school, till the times of Aurangzeb, who being a staunch orthodos muslim hated the art of painting or even music. So Hindu artists migrated to the hill regions of Himachal Pradesh developing Raheri Schools of painting and to Rajasthan where they developed Rajasthan School. Himachal Pradesh and Rajasthan, rules by different Hindu rulers had their own royal artist. These Schools developed with the immigration

of mughal school artists from Delhi on the other hand because of political changes, the faith in Hinduism increased and with the new abode of God Siva in Kashmir, the art of painting on Siva progressed and developed in themes, styles and varieties. All aspects of the God His manifestations, life and activities became a favourite topic with the painters and they produced enormous numbers. So from 16th century onwards, we find innumerable miniature paintings of God Siva produced in Northern India. Southern India remained contested with murals and Eastern India artists devoted more to God's consorts Durga or Kali. As such the birth place, progressive and developing of miniatures on God Sive is Northern India, particularly Himanchal, Rajasthan and Kashmir. The artists continued on this theme, even though the main rule in the country was of the mughals from 16th century to the 19th European rule (19th-20th centuries) preferred paintings levied by the Europeons, yet they did not prohibit the miniature paintings produced in India.

Thus the miniature paintings on Lord Siva continued to be produced from 16th century onwards, till the present free India rule. The miniature art, in the 21st Century under went many changes and the preference of the artists shifted to modernism, its isms abstract, college and such other styles; to the deteriment of old cultural, traditional and conventional art of India.

A few miniature painting on God Siva are hereby exhibited for the audience. The God who live through all ages and whose sculptures, murals, wall paintings, manuscript illustrations & miniatures glorify the art of India through all periods.

❑❑

"राजस्थानी चित्रकला की तकनीक एवं विकास" विशेषकर जैसलमेरी चित्रकला

डा. रघुवीर सिंह भाटी

वीर भूमि होने के कारण तलवार के धनी राजपूत राजाओं से कला की कोमल कूँची के संरक्षण की आशा, चमकते हुए सूर्य के प्रकाश में सितारों की खोज के समान असम्भव सी प्रतीत होती है किन्तु समय और खोज के साथ साथ आज इतिहास के विद्यार्थी अचरज से अध्ययन करते हैं कि इतने युद्ध व्यस्त रहने के विपरीत राजस्थान के राजा और रईसों ने अपने विश्राम के अल्प क्षणों में चित्रकला को जो संरक्षण व स्नेह प्रदान किया वह भारत ही नहीं समस्त विश्व की चित्रकला में अपना महत्व रखता है। सामान्यतः यह धारणा सी थी कि चित्रकला तो अजन्ता के बाद भारत से अदृश्य सी हो गयी और राजपूतों के समय को तो एक युद्ध मात्र का समय मान कर बड़े–बड़े कला पारखियों ने राजस्थान की कला को 'हिन्दू कला' और कभी 'राजपूत कला' के नाम से सम्बोधित किया। इतिहासकार ब्राउन ने अपनी पुस्तक "इंड़ियन पेन्टिंग" में राजस्थानी शैली को राजपूत शैली कह कर पुकारा है किन्तु उनकी यह धारणा अधूरी है कि राजपूत राजाओं व जमींदारों ने ही चित्रकला को संरक्षण दिया। वास्तव में धार्मिक संस्थाओं, सेठ–साहूकारों और आम साधारण जनता ने राजा महाराजाओं के साथ मिल कर राजस्थान में चित्रकला को पूर्ण संरक्षण दे कर समृद्ध बनाया। इसी प्रकार श्री एन.सी. मेहता ने अपनी पुस्तक "स्ट्ड़ीज इन इण्ड़ियन पेंटिंग" में राजस्थान की चित्रकला को "हिन्दी शैली" का नाम दिया है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि 16 वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी में विकसित इस कला पर मुगलों का भी भारी प्रभाव रहा अतः इसे हिन्दू या राजपूत शैली न कह कर हमें राजस्थानी के नाम से पुकारना चाहिये क्योंकि इस शैली की अपनी अनेक शाखायें है। बादशाह अकबर के विद्वान दरबारी अब्दुल फजल ने भी इसकी हिन्दु शैली कह कर प्रशंसा की थी। उनका कहना था कि, हिन्दू चित्रकार मुसलमान चित्रकारों से अधिक सुन्दर चित्र रचना करते हैं।" वास्तव में राजस्थानी शैली अपना स्वतन्त्र महत्व रखती है। जैसा कि कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक "राजपूत पेन्टिंग" की प्रस्तावना में लिखा है कि– "राजस्थान में भी चित्रकला का एक सम्पन्न स्वरूप है।" इसके साथ ही इस धारणा को भी मन से निकाल देना चाहिये कि राजस्थान में चित्रकला का प्रसार मुसलमानों के सम्पर्क में आने के बाद हुआ। श्री यदुनाथ सरकार की यह धारणा निराधार है कि अकबर और जहाँगीर आदि के सम्पर्क में आकर ही राजपूतों ने चित्रकारी का संरक्षण किया। वास्तव में राजस्थान में तो पाषाण काल से ही चित्रकारी चली आ रही है। अनेक स्थानों पर की गयी खुदाई में प्राप्त चट्टानों पर कई प्रकार के चित्र प्राप्त हुये हैं। यहाँ तक कि सिन्धु घाटी सभ्यता के समकालीन राजस्थान में तो कलाकार अपने भावों को चित्रों में सार्थकता से व्यक्त करते थे। ये चित्र शिकार, युद्ध और देवी की पूजा आदि महत्वपूर्ण विषयों पर बनाया करते थे।

वरिष्ठ प्रबन्धक जैसलमेर फोर्ट पैलेस म्यूजियम एवं हेरिटेज सेन्टर, जैसलमेर

प्राचीन राजस्थान में मिट्टी के बर्तनों पर सरल रेखाओं से चित्र अंकित किये जाते थे। जानवरों की आकृतियों का विशेष प्रचलन था। मिट्टी पर सलेटी रंग की पृष्ठ भूमि पर काले और लाल रंग के जानवर बनाते थे। हर्षवर्धन के समय तक अर्थात हिन्दू काल के अन्त तक पीले नीले और कत्थई रंग का प्रयोग भी होने लगा था। राजस्थान में पहले दो तरह के चित्र बनते थे। एक तो पुस्तकों में कथाओं को समझाने हेतु ताकि वे चित्र पुस्तकों को अलंकृत कर दें। जैसलमेर में इस प्रकार के सैकड़ों चित्र मिले हैं। दूसरे वे चित्र जो ताड़ की पत्तियों और महलों की दिवारों पर बनते थे। ये चित्र दरबारी जीवन, महफिल घर, नृत्य, धार्मिक उत्सव और पौराणिक कथाओं पर आधारित होते थे।

राजस्थान के रेतीले भाग को दिखाने के लिये पीले रंग का प्रयोग चित्रों में अधिक होता था। यहाँ के कलाकार सुन्दर बड़ी बड़ी आँखें बनाते थे जिन्हें कटाक्ष नेत्र कहा जाता था। चित्र में प्रकृति का पूरा सहयोग लिया जाता था। संक्षेप में यदि यह कह दें कि प्राचीन राजस्थान की चित्रकला अजन्ता से मिलती जुलती थी। हमारी चित्रकला पर भूगोल का भी प्रभाव है। मखमली बालू रेत की चादर, सूखे पहाड़ों की कतारें और पथरीली भूमि ने राजस्थान की कला को उसी प्रकार का बना दिया है। प्रकृति का जो चित्रण नाथद्वारा शैली में मिलता है वह भारत के किसी अन्य प्रदेश में नहीं मिलता। भौगोलिक स्थिति ने राजस्थान को राजनैतिक उथल–पुथल से बहुत समय तक बचाये रखा और इस बीच कला को विकास का पूर्ण अवसर मिल गया। वि.सं. के कुछ पहले ही यहाँ पहाड़, नदी, सूर्य, चाँद, मनुष्य, पशु, धनुष बाण आदि के चित्र बनते रहे हैं। बैराठ, रंग महल तथा आहड़ से प्राप्त सामान पर रेखा द्वारा वृक्ष आदि से सजावट इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन राजस्थान में भी चित्रकला पूर्ण विकसित थी।

राजस्थान के विभिन्न स्थानों में चित्रकला के विकास का अध्ययन करने से पहले यह उचित होगा कि हम इस कला के विषय का तथा क्षेत्र का भी अवलोकन करें। किशनगढ़ का प्रेयसी प्रेम, जयपुर में पुरुष व स्त्रियों की बेजोड़ रचनायें, जोधपुर की कलम से वीरतापूर्ण कृत्यों के चित्र, उदयपुर के स्वतन्त्रता पर मर मिटने व धार्मिक कथाओं के चित्र, नाथद्वारा के प्राकृतिक चित्र, कोटा बून्दी का नारी सौन्दर्य, अलवर के किनारों के डिजाइन, जैसलमेर का कृष्ण भगवान की विभिन्न लीलाओं के चित्र सारे भारत में प्रसिद्ध हैं।

यद्धपि नाथ द्वारा, कोटा, बून्दी अलवर की कला पर मुगल कला का प्रभाव है फिर भी इन सभी स्थानों में विकसित चित्रकला का अपना अलग अस्तित्व है। हम चित्रकला को निम्नलिखित विषयों में विभाजित कर सकते हैं।

1. धार्मिक चित्र	2. प्राकृतिक व ऋतु चित्र	3. जनजीवन के चित्र
4. व्यक्ति चित्र	5. प्रणय चित्र	6. पराक्रम चित्र
7. नारी सौंन्दर्य चित्र	8. पशु चित्र	9. ऐतिहासिक चित्र और
10. संगीत चित्र।		

राजस्थानी चित्रकला में जीवन के विभिन्न भागों का भरपूर प्रदर्शन होता रहा है। अब हम देखेंगे कि यह कला राजस्थान में कहाँ–कहाँ पर अपना केन्द्र बना गयी और कौन–कौन सी शैली के नाम से जानी जाती है।

1. जयपुर शैली	2. किशनगढ़ शैली	3. मारवाड़ शैली
4. मेवाड़ शैली	5. बीकानेर शैली	6. कोटा शैली
7. जैसलमेर शैली	8. अलवर शैली	9. बूँदी शैली
10. नाथद्वारा शैली		

एक तिब्बती यात्री तारनाथ ने सातवीं शताब्दी में श्रंगधर पुत्र जयतुक नामक चित्रकार का उल्लेख किया है। सबसे पहले मारवाड़ (जोधपुर) शैली का नाम लिया जाता है, उसके बाद दूसरी प्रमुख शैली बीकानेर की मानी गई है। बीकानेर में यति मथेरण तथा दूसरे उस्ता प्रमुख चितेरे थे। उस्तों ने 17वीं शताब्दी में हिन्दू कथाओं, संस्कृत हिन्दी व राजस्थानी काव्यों को आधार मान कर सैंकड़ों चित्रों की रचना की। उस्ता चितेरोंकी उत्पत्ति के बारे में कलाविद् श्री द्वारकर प्रसाद जी अपनी पुस्तक ''कला संस्कृति'' में लिखते हैं– कहा जाता है कि उस्ता जाति के पूर्वज जैसलमेर स्थित लौद्रवा के रहने वाले भाटी राजपूत थे। रेगिस्तान में बार–बार अकाल पड़ने के कारण इनके परिवार मुल्तान पलायन कर गये। वहाँ पर वहाउलहक नामक सूफी संत के प्रभाव में आकर इन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया तथा चित्रकला व्यवसाय में जुट कर अपना जीवनयापन करने लगे। निरन्तर अभ्यास, साधना और लगन के कारण इनकी कलम में इतनी सजीवता एवं बारीकी में समावेश हुई कि वे उस्ताद कहलाने लगे। इस सम्बोधन ने कालान्तर में ''उस्ता'' रूप में जातिगत रूप ले लिया। मुगलों ने उन्हें सम्मान दिया था। बीकानेर के महाराजा करण सिंह (1637–69) में उस्तों को बीकानेर लाये थे।

श्री मोतीचन्द जी डायरेक्टर प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम मुम्बई ने जैन मुनि श्री पुण्य विजय जी द्वारा सम्पादित ''जैसलमेर की चित्र समृद्धि'' गुजराती पुस्तक की भूमिका में लिखा है–

''सबसे पहले जब श्री जिन विजय जी जैसलमेर जैन भण्डार की दो पटलियों को प्रकाश में लाये तो उन्हें देख कर मुझे पता चला कि ताड़पत्र पर लिखे चित्र मध्यकालीन पश्चिम भारतीय कला के जिन अंगों पर प्रकाश डालने में अक्षम है वह प्रकाश इन पटलियों से पड़ता है। श्री जिन दत्तसूरी की व्याख्यान सभा वाली पटली से तो यह साफ–साफ प्रकट होता है कि 12वीं सदी में किस तरह एलोरा की रुढ़ियां टूट–टूट कर पश्चिम भारतीय शैली में परिणीत हो रही थीं। श्री सारा भाई नवाब के संग्रह की भरत और बाहुबली संग्रह वाली पटली से भी यह बात प्रकट होती है। कुमदचन्द्र और देवसूरी वाली पटली से इस बात का पता चलता है कि 12वीं सदी की चित्रकला केवल स्थिर भावों के ही प्रदर्शन में पटु नहीं थी प्रत्युत उस काल के चित्रकारों में नाटकीय और गतिमय भावों के प्रदर्शन की भी क्षमता थी। भरत और बाहुबली वाली पटली के पीठ

पर एक कमल की दोहरी बेल बनी हुई है जिसके खाने हंस मैथुन, व्यालक तथा दूसरी अलंकारिक लिखावटों से भरे पड़े हैं। जहाँ तक मुझे पता है इस तरह की बेल मध्यकालीन नक्काशियों में नहीं मिलती और सम्बन्ध सीधा अजन्ता और एलोरा से मिली बेलों से ही लगाया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है स्थापत्य के अधिक प्रगतिशील होने से उसमें से बहुत सी प्राचीन नक्काशियाँ छोड़ दी गयीं अथवा उनका रूप ही बहुत कुछ बदल दिया गया पर रुढ़िचुस्त होने से चित्रकला में कुछ ऐसे अलंकार बच गये जिनका इतिहास प्राचीन था।

जब मैं पश्चिम भारतीय कला पर अपनी खोजें लगा रहा था और उपरोक्त पटलियाँ मेरे सामने आईं तो मेरा दिल यही कहता था कि इस तरह की पटलियां और भी मिलनी चाहिये और हमारे सौभाग्य से आदरणीय मुनि श्री पुण्य विजय जी ने जैसलमेर के ज्ञान भण्डारों से ऐसी चौदह पटलियाँ (पट्ठिकाऐं) और बहुत से ताड़ पत्र पर बने चित्र ढूंढ़ निकाले जिनसे पश्चिम भारतीय चित्रकला के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। श्री नेमीनाथ के जीवन प्रसंग वाली पटली में एक गतिशीलता है जिससे पता चलता है कि 13वीं सदी के चित्रकार केवल एक मूर्ति वाले चित्रों तक ही अपने को सीमित न रख कर बड़े चित्र भी बनाते थे। पर सबसे विलक्षण पटली जो जैसलमेर से मिली है यह है कमल की बेल वाली पटली जिसका समय 12वीं सदी या उसके आस–पास का होना चाहिये। इस बगल की लिखावट भरत और बाहुबली वाली पटली के बेल की तरह ही है पर उसके खानों के अलंकारों में कुछ विशेष बातें है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। एक खाने में जिराफ दिखलाया दिखलाया गया है। शायद भारतीय चित्रकला में जिराफ का सबसे पहला चित्रण हो। जिराफ का दूसरा चित्रण 13वीं सदी के मध्य में बने उड़ीसा के कोणार्क के मन्दिर का, एक घर में मिलता है। साथ के हब्शी उसे राजा को भेंट के लिये ले जा रहे हैं। लगता है पूर्वी अफ्रीका के व्यापारी जिराफ को एक अद्भुद जीव जान कर यदा कदा उसे भारतीय राजाओं की भेंट को लाते थे। इसी बेल में एक जगह दो नारियाँ जल विहार कर रही हैं, जो निम्नपूर्वक प्राचीन भारतीय कला की कमलवन में विहार करती हुई यक्षणियों की प्रतीक हैं। एक दूसरी जगह गेंड़ा बना हुआ है और जिराफ की तरह इस पशु का चित्रण मेरे ज्ञान में मोहनजोदड़ो की मुद्राओं, सांची के एक अर्द्ध चित्र तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की एक मुद्रा को छोड़ कर और कहीं नहीं हुआ है। अन्तिम खाने में एक मकर के मुख से कमल की बेल निकलती बताई गयी है जो इस बेल की प्राचीनता की प्रतीक है। मकर मुख से उत्कीर्ण कमल की बेल सांची, अमरावती और मथुरा के अर्ध चित्रों की एक खास विशेषता है।''

सीमान्त भू भाग में स्थित जैसलमेर के निवासियों व शासकों ने आक्रान्ताओं से इस धरा की रक्षा ही नहीं की परन्तु अपनी कला को अक्षुण्ण रख कर एक अनूठा उदाहरण पेश किया है। जैसलमेर की चित्रकला का राजस्थान में एक विशिष्ट स्थान है। यहाँ के भित्ति चित्र बेजोड़ हैं। महारावल मूलराज द्वितीय (1761–1819 ई.) में मूलविलास महल (हाल में सभा निवास) के मोती महल में तथा महारावल बैरिसाल ने (सन् 1864–90) में दुर्ग स्थित रंग महल को रोचक भित्ति चित्रों से सुसज्जित किया था। इन दोनों महलों की दिवारें आले एवं छत को चूने की सतह बना कर खनिज

रंगों की सहायता से सजाया गया है। यहाँ राधाकृष्ण के प्रसाधन दृश्य, शिव परिवार, श्रीनाथ जी, गणेश, परिवार, जैसलमेर की गणगौर का लवाजमा, नर्तकियाँ, पनिहारिन, गौचरण, सरोवर, विभिन्न मुद्राओं में नायिकाऐं, फूल–पत्तियाँ, आदि के चित्र बड़े मनमोहक रंगों से बनाये गये हैं। यहाँ पर कोटा, जयपुर एवं जोधपुर नगरों उदयपुर तथा बूंदी के नभचित्र भी मुगल शैली में चित्रित किये गये हैं। उसी काल के सभा निवास भवन के मोती महल में भी बहुत ही बारीक तथा भगवान श्री कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का चित्रण बखूबी किया गया है। वर्तमान महारावल श्री बृजराज सिंह ने उक्त रंगमहल व सभा निवास महल के भित्ती चित्रों के संरक्षण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाते हुऐ उनका संरक्षण करवाने का कार्य जोधपुर दुर्ग, मेहरानगढ़ में स्थित आई.सी.सी. मेहरानगढ़ आर्ट कन्जरवेशन सेन्टर से करवाना प्रारम्भ किया है।

जैसलमेर दुर्ग में ज्ञान भण्डार नामक संग्रहालय में हस्तलिखित ताड़पत्रिय ग्रन्थों की संख्या 426 व कागज के 2257 ग्रन्थ हैं, तथा उनके अलावा 36 चित्र पठ्ठिकायें (पटलियाँ) हैं जिसमें विशिष्ट शिला का की चित्र पट्टिका सर्वोत्तम है।

हम यह बड़े गर्व से कह सकते हैं कि, जैसलमेर के जैन भण्डारों ने भारतीय साहित्य के संरक्षण के साथ–साथ हमारी चित्र समृद्धि को भी सुरक्षित किया हुआ है। उनके इस सुकृत्यों की पताकायें सदा विद्वत संसार में फहराती रहेंगी तथा भावी पीढ़ियाँ आपकी ऋणी रहेंगीं।

हरखों महारावल गजसिंह के समय में नामी चित्रकार था इसने दिवान ईसरलाल जी का चित्र बनाया था। प्रभु आचार्य ने महारावल शालीवाहन द्वितीय के समय में श्री कृष्ण की रासलीला के सुन्दर चित्र बनाये थे। तीर्थ जी जागरी, ज्ञानचन्द बाबूलाल दरोगा, फतेहचन्द चूरा आदि भी अच्छे चित्रकार थे। आधुनिक चित्रकारों में श्याम सुन्दर श्रीपत, भंवरलाल व्यास, कन्हैयालाल सोनी, रघुनाथ सुथार, घनश्याम गोस्वामी, श्यामदेव पालीवाल एवं लक्ष्मण गोयल माने हुये चितेरे हैं जो स्थानीय चित्रकला की जीवित रखे हैं। लक्ष्मण गोयल द्वारा बनायी बहुत सी रचनायें हमारे दुर्ग के संग्रहालय में आज प्रदर्शित की गयी हैं जिन्हें देखने वाले पर्यटक एकबारगी प्रशंसा किये बिना नहीं रहते।

'निष्कर्षतः, राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से बड़ा समृद्ध प्रान्त हैं। भारतीय चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि "इस चित्रकला की निधि को जो अनेक राजप्रासादों की भित्तियों तथा संग्रहालयों में सुरक्षित है टटोला जाए"

□□

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

राजस्थानी लघु एवं भित्ति चित्रों में प्रयुक्त वर्ण एवं निर्माण प्रक्रिया

डा. नाथूलाल वर्मा

रंगों का जीवन में जिस प्रकार महत्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार चित्रकला में भी रंगों का अपना विशेष महत्व है। रंगों के सुन्दर संयोजन से ही चित्र सुन्दर बनता है। वस्तुतः वर्णाभाव में चित्र निर्जीव ही रहेगा। इसलिए चित्रकला के क्षेत्र में वर्ण प्रधान आकर्षण है और इन्हीं के कुशल प्रयोग द्वारा कलाकार विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति करता है। वर्ण ही चित्रकला का प्रधान माध्यम है। इसी से विभिन्न चित्र शैलियाँ अस्तित्व में आईं।

आज के इस आधुनिक युग में हमारे देश की परम्परावादी कला प्रायः लुप्त सी होती जा रही है इसका मुख्य कारण तकनीकि ज्ञान के अभाव में या मानव की व्यवस्था या फिर परिश्रम से बचना। प्राचीन परम्परावादी चित्रों में तकनीक का अपना विशेष महत्व होता था सही तकनीक ही चित्र को चिरायू बनाती है इसका उदाहरण हमें अजन्ता बाघ तथा मध्यकालीन लघु चित्र शैलियों में देखने को मिलता है। आज हम तकनीक के अभाव में प्राचीन भित्ति चित्र जो राष्ट्र की अनमोल धरोहर के रूप में हैं। उनको तक नहीं बचा पा रहे हैं। और जैसे तैसे सरकार उन पर ध्यान देती है तो वो ऐसे कुछ ठेकेदारों के माध्यम से ऐसे कुछ कलाकारों को साथ लेकर उन चित्रों को पुर्नजीवित करने में लगा देते हैं। जिनको उनके पारम्परिक रंगों एवं सही चित्र शैली तक की जानकारी नहीं होती है, तो ऐसे में चित्र पुर्नजीवित होने के बजाय कुछ समय के बाद ही सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं।

वर्णों का उचित प्रयोग ही एक सफल चित्रकार का मुख्य लक्षण है। जिस प्रकार संगीत के अन्तर्गत स्वर की साधना की जाती है उसी प्रकार चित्रकला में वर्णों की साधना करनी पड़ती है। संसार का शायद ही कोई विशिष्ट कलाकार ऐसा हो जिसने रंगों की साधना न की हो। आज भी यदि हम मध्यकालीन लघु चित्रों में रंगों के प्रयोग को देखते हैं तो वे हमें तरोताजा प्रतीत होते हैं, लगता है कि किसी कलाकार ने अभी हाल ही में इस चित्र को निर्मित किया है। इसका मुख्य कारण चित्रों में सही तकनीक के साथ रंगों को प्रयुक्त करना।

राजस्थानी चित्रण शैली में अधिकांश मिट्टी के या धातु के वर्ण प्रयुक्त हुए हैं रंगों के निर्माण में दो मुख्य प्रक्रिया काम में लाई जाती थीं। प्रथम तो इन पदार्थों को अत्यन्त सूक्ष्म कणों में पीसना तथा दूसरे किसी चिपकने वाले पदार्थ में उस चूर्ण को घोटना जिससे की चित्र में रंग मजबूती से चिपक जाय।

राजस्थानी चित्रण शैली में प्रयुक्त वर्णों के आधार पर वर्णों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता हैं :– 1. खनिज वर्ण, 2. रासायनिक, 3. वानस्पतिक, 4. जैविक वर्ण।

13, अर्जुनपुरी, इमली फाटक, जयपुर।

राजस्थानी चित्रण शैली में अधिकांश रूप में खनिज रंगों का ही प्रयोग अधिक किया गया है कुछ खनिज रंग बारीक चूर्ण के रूप में उपलब्ध होते हैं तथा कुछ रंग ठोस पत्थर के रूप में इन्हें भी बारीक चूर्ण के रूप में लाकर रंग बनाया जाता था। रंगों की प्राकृतिक अवस्था अशुद्ध होती थी अतः रंगों को पानी में घोलकर बार–बार निथार कर उन्हें शुद्ध किया जाता था। इससे उनकी अशुद्धियाँ नीचे बैठ जाती थीं तथा ऊपर का शुद्ध रंग का घोल किसी अन्य बर्तन में निकाल कर पुनः पानी निथार कर पृथक कर दिया जाता था। इस क्रिया से रंगों का शोधन किया जाता था। इसके पश्चात् इन्हें सुखा कर चित्रणकार्य में आवश्यकतानुसार रंगों में माध्यम हेतु गोंद या सरेस मिलाकर प्रयुक्त किया जाता था।

1. खनिज वर्ण – खड़िया (White) गेंरू (Burnt sienna) हिरमिच (Indian Red) रामरज (Yellow ocher) हरा भाट्टा (Terraverde) मुल्तानी मिट्टी, लाजवर्द (Lapis lazuli) दानाफा रंग (Melakite) हजरते बेर (Oft white) शिगंरफ (Cinnabar) हरिताल तबकिया (Orpiment) सोना (Gold) चांदी (Silver) रांगा (Tin) सुरमा आदि।

2. रासायनिक वर्ण–जिंक आक्साइड (White) सिन्दूर (Vermilion) पेवडी (Chrome or lamon yellow) गऊ गोली (गोगिल गाय की मिट्ट) (Indian Yellow) काजल (lamp black) रसोई का धुआं (Smoke) जगांल (Bluish green) सीलूं (Emrelled green) चाइनीज नाम सी का अर्थ पत्थर लुं का हरा अर्थात् पत्थर का हरा जापानी में "रोकश्यों" मेन्सिल (Orange) नील (Light Blue)

3. वानस्पतिक वर्ण–देशी नील (Indigo) महावर, लाख (Lack) (Crimson) रसौत (Baraberi) सारेरेवन, मूंगा की जड़ (Coral) कैसूला के फूल

4. जैविक वर्ण– शंख सीप का सफेद (Shell White) कृमिदाना (Cochineal) सोनकिरवा (Beetle wings) गौरोचन।

वर्ण निर्माण विधी – खडिया, गेरू, हिरमिच, रामरज, हराभाट्टा आदि रंगों को उपरोक्त विधि से निथार कर शुद्ध किया जाता है। तत्पश्चात् गोंद मिलाकर चित्र में प्रयुक्त किया जाता है।

लाजवर्द (Lapis Lazuli) लाजवर्द बहुत ही कीमती पत्थर है इससे जो रंग बनता है वह लाजवर्दी कहलाता है। इसे बहुत ही स्थाई वर्ण माना गया है। इसके प्राप्ति स्थान अफगानिस्तान तथा फारस थे। अजन्ता के चित्रों में इस रंग का प्रयोग मिलता है। मुगल चित्रकारों ने भी इस रंग का अधिक प्रयोग किया है ताड़ पत्रीय ग्रन्थों में इस रंग का प्रयोग नहीं हुआ है। अपभ्रंश काल के कागद पर बने चित्रों में लाजवर्दी प्रिय रंग कहा रहा है।

लाजवर्द का रंग बनाने हेतु गहरे नीले पत्थर अर्थात् जिसमें सफेदी का अंश कम होता था उसी को रंग बनाने के लिए अधिक उत्तम समझा जाता था। या फिर इसके छोटे–छोटे टुकड़े कर सफेद पत्थर के अंश को निकाल दिया जाता था क्योंकि सफेद अंश रहने से रंग हल्का हो जाता है। बारीक छोटे–छोटे लेपिस पत्थर के टुकड़ों को किसी पत्थर की खरल में थोड़े पानी व नींबू रस

के साथ खूब घोटा जाता है। इसे खरल में चार या पांच दिन तक बराबर घोटना पड़ता है। खूब खरल करने से रंग चमक युक्त बनता है। खरल होने के बाद इसमें खूब पानी भरकर छोड़ दिया जाता है कुछ घन्टों के बाद रंग नीचे बैठने पर ऊपर से उस पानी को निथार दिया जाता है। यह पानी निथारने की क्रिया तीन चार बार दोहरानी होती है जिससे रंग अच्छी तरह से शुद्ध होकर चमक युक्त बन जाय। रंग शोधन क्रिया के समय कुशल चित्रकार इसमें से विभिन्न रंगों को अलग अलग निकाल लेता है। इसमें कुछ मोटे दाने के रूप में गहरी रंगत उससे हल्की दानो वाली कुछ कम गहरी तथा बारीक पिसी हुई बहुत हल्की नीली रंगत में होती है। सूखने के पश्चात् आवश्यकतानुसार लेकर चित्रकार गोंद अथ मिलाकर चित्र में प्रयुक्त करता है।

दानाफा रंग (Melakite)

इससे पन्नई हरा रंग बनाया गया है। यह भी काफी कीमती पत्थर के रूप में मिलता है। यह बहुत ही स्थाई रंग है। मुगल कलाकारों का बहुत प्रिय रंग रहा है। इसके भी निर्माण की प्रक्रिया लेपिस लाजुली की ही भाँति शुद्ध कर चित्र में प्रयुक्त किया गया है।

हजरते बेर

यह पत्थर के रूप में उपलब्ध होता है। इसका प्रयोग औषधि में भी हुआ है। इसका आकार बड़े बेर या सुपारी के समान होता है। इसको तोड़ने पर सुपारी की ही भाँति इसमें धारियाँ सी बनी हुई प्रतीत होती हैं, ईरान एवं सिन्ध के इलाके में प्रायः इसका उपलब्ध स्थान माना गया है। इसे भी पत्थर की सिल पर खूब घिस कर एवं नितार कर शुद्ध किया जाता है। चित्र में गोंद मिलाकर इस वर्ण को प्रयुक्त किया गया है।

शिगंरफ (Cinnabar)

इससे जो रंग बनता है उसे हिगूल या शिगंरफ कहा गया है। शिगंरफ दो प्रकार का होता है एक तो रूमी शिगंरफ व दूसरा काठा। चित्रण हेतु रूमी शिगंरफ को ही प्रयुक्त किया गया है। इस शिगंरफ में पतली–पतली चमकीली सुइयां सी होती हैं क्योंकि इसमें पारे की मात्रा पाई जाती है यदि इसे थोड़ी ऊँचाई से गिरा दिया जाय तो इसकी छोटी–छोटी खील हो जाती है। खरल में इसके छोटे–छोटे टुकड़े कर भेड़ के दूध के साथ पानी डाल कर पन्द्रह या बीस दिन तक खूब घोटा जाता है खूब बारीक घुट जाने के पश्चात् उसमें पानी भर कर रात भर के लिए छोड़ दिया जाता है इससे पिसा हुआ शिगंरफ नीचे बैठ जाता है। व पानी के ऊपर एक प्रकार के पीले रंगों की परत जमा हो जाती है उसे बड़ी सावधानी के साथ निथारकर पानी सहित बाहर निकाल दिया जाता है। यह क्रिया दो तीन बार करनी होती है। इस क्रिया से भेड़ के दूध की चिकनाहट व उसकी वह पीली परत जो रंग के लिए हानिकारक होती है निकाल दी जाती है। पुनः इसमें नींबू का रस डालकर खूब खरल करना होता है। तत्पश्चात् इसमें भी पानी भर कर छोड़ दिया जाता है कुछ घन्टों पश्चात् शिगंरफ के नीचे बैठने के पश्चात् बड़ी सावधानी के साथ उस पानी को निथार कर बाहर कर दिया जाता है। यह क्रिया

तीन चार–बार दोहरायी जाती है। इससे रंग पूर्ण शुद्ध हो जाता है। शुद्ध होकर हिंगूल के रूप में तैयार होता है लाल रंगों में हिगूल रंग को सभी रंगों में श्रेष्ठ व सुन्दर माना गया है। राजस्थानी कलाकारों का यह बहुत प्रिय रंग रहा है। फलक एवं भित्ति चित्रों में इसका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। यह भी बहुत स्थाई रंग है, इसका प्रयोग भी गोंद व सरेस के साथ चित्रों में हुआ है।

हरिताल तबकी (Orpiment) पीतवर्ण

विष्णु धर्मोत्तर पुराण में हरिताल को रंगने वाला पदार्थ माना गया है। मध्य कालीन ताड़ पत्रीय ग्रन्थों में हरिताल का प्रयोग त्रुटि शोधन के लिए किया जाता था। हरिताल की दो श्रेणियां मानी गई हैं। प्रथम गोदन्ती दूसरी तबकी हरिताल। रंग के लिए तबकी हरिताल को ही चित्रों में प्रयुक्त किया गया है। इससे पीला (पीत) रंग बनाया गया है राजस्थानी चित्रों में भी इसका अधिक प्रयोग हुआ है। इससे मिश्रित रंग अधिक बनाए गये हैं। हरिताल के शुद्ध करने के लिए पत्थर की खरल में थूहर (घोटा थोर) के थोड़े दूध के साथ खूब घोटा जाता है हरिताल खूब घोटने पर बारीक पिस जाने के बाद इसमें पानी डालकर छोड़ दिया जाता है। कुछ समय बाद हरिताल के नीचे बैठ जाने के पश्चात् ऊपर के पानी को बड़ी सावधानी से निकाल दिया जाता है। ये क्रिया दो तीन बार करनी होती है। जिससे उस पानी के साथ थूहर के दूध की चिकनाहट भी निकल जाती है। पुनः इसमें भी शिगंरफ की ही भाँति इसमें भी नींबू रस डाल कर शुद्ध किया जाता है। गोंद मिलाकर चित्रण हेतु प्रयुक्त किया जाता है। इसकी रंगत में नीबूंई रंग की झलक होती है। मिश्रित रंग में हरा रंग बनाने के लिए इसका प्रयोग हुआ है। नील एवं हरिताल के पीले से मूंगिया हरा बनता है। तरबूजी बनाने में काजल, हरिताल और नील का मिश्रण किया जाता है।

सोना (Gold Powder)

स्वर्ण बाजार में वर्क (तबक) के रूप में मिलता है। चित्रों में इसका प्रयोग दो विधियों से किया गया है। एक तो सीधे स्वर्ण पत्रों को चिपका कर व दूसरा स्वर्ण का चूर्ण बनाकर। स्वर्ण चूर्ण को हिलकारी नाम से मुगल कलाकारों ने सम्बोधित किया। स्वर्ण हिलकारी बनाने के लिए विशेष पद्धति को अपनाया गया है एक चीनी मिट्टी की या तामचीनी की प्लेट जो कि बिल्कुल साफ (स्मूथ) हो अर्थात् उसकी सतह में खुरदरा पन न हो लेकर उसमें थोड़ा गोंद का बारीक पिसा हुआ चूर्ण एवं थोड़ा शहद डालकर उसका पेस्ट बनाले वह पेस्ट प्लेट की सतह पर चारों ओर चिपक जायेगा। जब धीरे–ध ीरे उसमें ताव आजाये अर्थात् चलते–चलते कुछ हाथ रुकने लगे एवं उसको छूने से चिटचिट की आवाज आये तब स्वर्ण पत्र को बड़ी सावधानी से उस पर चिपका कर हाथ के अंगूठे या फिर हथेली के नीचे वाले भाग से धीरे–धीरे घोटना चाहिए इसमें जल्द बाजी नहीं करना चाहिए नहीं तो सोना मोटे रूप में रह जायेगा वह बारीक पीसना चाहिए। घोटते समय यदि रूकावट आने लगे तो उसमें थोड़ी मात्रा में पानी का छिंटा लगाकर उसी क्रिया को पुनः दोहराना चाहिए। इस प्रकार एक–एक कर जितने भी स्वर्ण पत्रों की हिलकारी बनानी हो उसे घोट देना चाहिए। जब सारे पत्र उस पेस्ट के साथ घुट जायें तो पुनः उसे एकत्रित कर खूब घोटना चाहिए जब लगे कि सारे पत्र बारीक पिस गये तो उस

पेस्ट को उसी प्लेट में एकत्रित कर उसमें शुद्ध जल भर दें कुछ घण्टों के पश्चात् स्वर्ण चूर्ण नीचे बैठ जायेगा तब उसका ऊपर का पानी बड़ी सावधानी से निकाल देना चाहिए यह क्रिया तीन या चार बार दोहरानी होती है। जिससे मिला हुआ गोंद एवं शहद पानी के साथ बाहर निकल जाय। पुनः इसमें पानी भरकर नींबू की तीन चार बूंद डाल कर कुछ समय के लिए रख दे पुनः उसी क्रिया को अपनाते हुए यह पानी भी बाहर निकाल दे इस क्रिया को भी दो तीन बार करनी होती है। इससे स्वर्ण चूर्ण बिल्कुल शुद्ध हो जाता है इसे सूखने पर किसी काँच की शीशी (ढक्कन युक्त) में भरकर रख देना चाहिए। चित्रण हेतु आवश्यकतानुसार किसी तामचिनी की छोटी प्लेट में लेकर उसमें गोंद या सरेस मिलाकर चित्र में प्रयुक्त किया जाता है। चित्र में लगाने के पश्चात इसमें चमक पैदा करने हेतु इस स्थान को अकीक पत्थर (ऐगेट पत्थर) से घोटा जाता है जिससे उसमें चमक आ जाये।

स्वर्ण पत्रों को चिपकाने की विधि

चित्रों में स्वर्ण पत्रों को गोंद, सरेस व वत के माध्यम से चिपकाया जाता है स्वर्ण पत्र चिपकाने के लिए अभीष्ट स्थान पर पहले गर्म सरेस गोंद या बत से ब्रश द्वारा लगा दिया जाता है। चित्र में जितने स्थान पर स्वर्ण पत्र चिपकाना होता है उससे कुछ बड़ा स्वर्ण पत्र कैंची से दोनों पेपर सहित काट लिया जाता है। अभीष्ट लगे हुए सरेस या गोंद या बत को अंगुली से छूकर उसका ताव देखा जाता है कि स्वर्ण पत्र इस स्थान पर चिपकाने लायक हुआ या नहीं यदि उसके ताव आने में कुछ कमी हो तो उसे कुछ समय के लिए और छोड़ दिया जाता है, पुनः जब अंगुली उस अभीष्ट स्थान पर थोड़ी–थोड़ी चिपकने लगे या चिट–चिट की सी आवाज आये तो समझा जाता है कि यह स्थान अब स्वर्ण पत्र के चिपकाने योग्य हो गया। तब उस पर वह कटा हुआ स्वर्ण पत्र उठाकर उसका एक तरफ का लगा हुआ पतला पेपर हटा कर बड़ी सावधानी के साथ उस स्थान पर हल्के से रख दिया जाता है। इसके बाद रुई से हल्का–हल्का उसे दबाया जाता है ताकि पत्र चिपक जाये। चिपके हुए स्वर्ण पत्र को पूर्ण रूप से सूखने के पश्चात् किसी पंख या साफ सूखे ब्रुश से झाड़कर स्वर्ण पत्र के चारों ओर के किनारों को साफ कर दिया जाता है।

उपरोक्त विधि से स्वर्ण पत्र के चिपके हुए स्थान पर चित्रण कार्य करने से पूर्व चित्रकार को उस पर अरीठे का पतला पानी या अण्डे की सफेदी का पतला अस्तर ब्रुश द्वारा लगाना अनिवार्य होता है यदि ऐसा नहीं करते हैं तो चिपकाये हुए स्वर्ण पत्र पर रेखाकिंत कार्य नहीं हो पायेगा। अतः यह क्रिया कर ही स्वर्ण वाले स्थान को बारीक अलंकरण या रेखांकित कर सकते हैं।

रांगे की हिलकारी (Tin Powder)

रांगे की हिलकारी को मेवाड़ में कतीर कहां गया हैं। चित्रों में इसका प्रयोग चांदी के स्थान पर अधिक हुआ है। क्योंकि यह बहुत ही स्थाई रंग है। चांदी जल्दी ही काली पड़ जाती है। इसका प्रयोग कागज एवं पट्ट चित्रों में अधिक हुआ है। इसको भी सरेस के साथ प्रयुक्त किया गया है। चित्र में लगाने के पश्चात् इसकी भी अकीक पत्थर (ओपनी) से घुटाई की जाती है जिससे इस रंग में चांदी की ही भांति चमक आती है।

रासायनिक वर्ण

काजल (Lamp black)

इसे स्याह काला रंग कहा गया है। काजल बनाने के लिए एक बड़े मिट्टी के दिये में तिल्ली का तेल भरकर उसमें रुई की बत्ती डालकर बाती को जलायें अब दीपक के ऊपर कांसे की थाली में पानी भरकर इस तरह रखना चाहिए कि थाली का पैंदा दीपक की लौ से ऊपर रहे। ताकि काजल उस थाली के नीचे वाले पैंदे पर ही चिपकता रहे। यदि पानी गर्म हो जाये तो उसे थाली को हल्के से उठा कर उसका गर्म पानी बाहर फैंक दे व ठण्डा पानी भरकर उस दीपक पर पुनः रख दें। इससे थाली के पुनः ठण्डी होने पर काजल और अच्छे से चिपकेगा। इस क्रिया से काजल एकत्रित हो जायेगा इस एकत्रित हुए काजल को किसी काँच की शीशी में भर कर रखना चाहिए चित्र में प्रयुक्त करने से पूर्व उसको किसी प्याली में सीधा ही पानी डालकर घोलने का प्रयत्न करेंगे तो वह नहीं घुल पायेगा क्योंकि उसमें चिकनाहट बहुत है इसलिए इसमें पानी से पूर्व आकड़े के दूध की कुछ बूंदें डालकर इसे घोटेंगे तभी वह पानी व गोंद के साथ घुट पायेगा तत्पश्चात् ही इसे चित्र में प्रयुक्त कर सकते हैं।

जंगाल

यह नीलापन लिए हरा रंग होता है। 15 वी.श. के बाद के चित्रकारों का यह प्रिय रंग रहा है। यह फलक चित्रों में ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। इसे बनाने के लिए सेर भर ताम्बे का चूर्ण और नौसादर सेर भर इन्हें मिट्टी के किसी पात्र में डालकर मिश्रित करने के तत्पश्चात् उसमें सिरका रस अधिक मात्रा में डालकर उसे मिश्रित कर उस बर्तन के आवरण को किसी चीज से बंद कर मिट्टी में गढ्ढा खोद कर चालीस दिन तक के लिए गाढ़ दिया जाता है। चालिस दिन पश्चात् उसे निकाल कर जंगाल को खरल किया जाय उसके बाद छाया में सुखा दें। इस क्रिया से जंगाल बहुत ही उत्तम बन जायेगा। चित्रों में इसे सरेस के साथ प्रयुक्त किया गया है। ज्यादा पुराना होने पर चित्र में काले–काले से धब्बे हो जाते है एवं कागज को भी काट देता है लेकिन यह सुन्दर रंग होने के कारण कलाकारों ने इसे अधिक प्रयोग में लिया है।

वनस्पति वर्ण

महावर लाख (Lack)

लाख से रंग बनाने की प्रक्रिया–मध्य कालीन राजस्थानी चित्रकारों ने लाख से विभिन्न प्रक्रिया द्वारा अलग–अलग रंगतों में लाख को प्रयुक्त किया है इससे जो लाल रंग बनता है उसे महावरी रंग कहा गया है। इसका प्रयोग राजस्थानी फलक व पट चित्रों में खूब हुआ है। इसके लिए पीपल, कुसुम, पलास व बेरी की लाख को रंग हेतु प्रयुक्त किया गया है। लेकिन पीपल व कुसुम की ही लाख को अधिक उपयुक्त माना गया है।

सामग्री

2 सेन निर्मल जल, 1 सेर लाख दाना, 1 तोला पठानी लोध, 1 तोला सुहागा चूर्ण लाख दाना को साफ कर किसी मिट्टी के बर्तन में डालकर उसे पानी से भर दे और रात भर उसे भीगने हेतु छोड़ दिया जाय। लाल महावरी रंग बनाने हेतु इसे मिट्टी के बर्तन में चूल्हे की आंच पर पकाना अनिवार्य होता है गर्म पानी में लाख पकने के थोड़ी देर बाद उसमें पठानी लोध व सुहागा चूर्ण रूक–रूक कर थोड़ी–थोड़ी मात्रा में डालते जाये इस प्रक्रिया से लाख दाना गर्म पानी में पूर्ण रूप से गल जाने पर उसमें एक प्रकार का लाल अर्क निकलता है जो महावरी रंगत लिए होता है जाँच हेतु इसे थोड़ा कलम द्वारा किसी कागज पर रेखा लगाकर देखा जाता है यदि यह फैलता है तो उसमें पुनः थोड़ी पठानी लोध एवं सुहागा डाल कर कुछ देर और पकाना होता है यदि कागज पर लगाई रेखा का रंग नहीं फैलता है तो उसे आँच पर से उतार कर किसी अन्य बर्तन (थाली) में छान लिया जाता है व कुछ समय बाद ठण्डा होने पर उसमें रूई के गुच्छे छोड़ दिये जाते है इस क्रिया से तमाम रंग उन गुच्छों में जमा हो जाता है पूर्ण रूप से ठण्डा होने पर गुच्छा सख्त हो जाता है इन रंग युक्त गुच्छों को ''चूखा'' नाम से सम्बोधित किया गया है। चित्र में प्रयुक्त करने के लिए थोड़े पानी में इसे घिस कर सीधे ब्रुश के माध्यम से लगाया जाता है। यह चित्रकारों का बहुत ही प्रिय रंग रहा है। यदि इस लाख को ताम्बे के बर्तन में पकाया जाये तो यह हरी रंगत लिए हुए होगी व लोह के बर्तन में पकाने से बैंगनी रंगत जैसी होगी।

जैविक कर्ण

कृमिदाना (Cochineal) इससे गुलाबी लाल रंग बनाया गया है यह दो शब्दों से मिलकर बना है प्रथम कृमि अर्थात् कीड़ा द्वितीय दाना दोनों को मिलाकर/कृमिदाना यह एक प्रकार का कीड़ा है जो केकती Cacti पेड़ पर पाया जाता है। रंग हेतु मादा कीड़े को ही प्रयोग में लिया गया है इस रंग का प्रयोग ताड़ पत्रीय ग्रन्थों में कम किन्तु कागज के चित्रों में बहुतायत से हुआ है। संस्कृत साहित्य में कैरमस को रंग के लिए नहीं बताया केवल कीटों से उपलब्ध होना बताया है। दिगम्बर जैन भी भागवती आराधना की गाथा 567 में यह वर्णित है कि कृमि रंग कीड़ों द्वारा बनाया जाता था तथा मूल्यवान चादरें रंगने के काम में आता था। इस रंग की उत्पत्ति भारतीय नहीं इसका मूल केन्द्र समरन्द तथा फारस था। 17 वीं शताब्दी में कैरमस का भारत में आयात किया गया। यह नाम अरबो का दिया गया है। मध्य कालीन लैटिन में कैरमेसिनम है जो इटली में ''क्रेमिसिनो' फ्रेंच में क्रैमोइसी तथा इंगलिश में क्रिमजन हो गया।

रंग बनाने के लिए कृमिदाना एक भाग तथा कुछ मात्रा में पठानी लोध का पीसा चूर्ण के साथ सूती कपड़े में बांधकर पोटली को निर्मल जल में सारी रात भीगा रहने दे। पुनः उसे धूप में या हल्की आँच देकर गर्म किया जाता है 'गर्म होने से उसमें गुलाबी गहरा लाल अर्क निकलने लगता है उसके बाद उसे छानकर किसी शीशी में भरकर रख लिया जाता है पठानी लोध से रंग का मैल कटता है तथा रंग अच्छा बनता है भित्ति चित्रों में इसका प्रयोग नहीं हुआ है।

सोन किरवां (Beetle Wings)

यह एक प्रकार का उड़ने वाला कीड़ा है जो कुछ चमक युक्त हरापन लिया हुए होता है। इसके पीठ वाले एवं पंख भाग को एकत्रित किया जाता है इसका प्रयोग चित्रण में आभूषणों के स्थान पर किया गया है। आभूषणों में इसके पन्नई रंग को दर्शाने हेतु बीच–बीच में किया गया है। चित्रों में प्रयुक्त करने हेतु चिपकाने से पूर्व इसकी हल्की–हल्की सी कटिंग कर उसे वैसा ही रूप देकर अभीष्ट स्थान पर सरेस के साथ चिपका दिया जाता है। राजस्थानी चित्रों में इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है। जयपुर एवं बीकानेर शैली के चित्रों में इसका प्रयोग दर्शित होता है। विशेषकर बसोली शैली के चित्रों में अधिक प्रयोग मिलता है।

❑❑

नालन्दा की भित्ति चित्रकला

डा. विनोद कुमार यादव

भारत के इतिहास में बिहार का गौरवपूर्ण स्थान रहा है, इस भू–भाग ने न केवल राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र का नेतृत्व किया है, बल्कि कला के क्षेत्र में भी इसका योगदान अद्वितीय रहा है। इसी बिहार की राजधानी पटना से 90 किमी. दक्षिण–पूर्व तथा राजगीर से 11 किमी. उत्तर में नालन्दा स्थित है।[1] पांचवी शताब्दी में कुमार गुप्त प्रथम द्वारा अपनी स्थापना से लेकर तेरहवीं शताब्दी में बख्यितार खिलजी द्वारा अन्त किए जाने तक नालन्दा देश–विदेश में अपने ज्ञान–विज्ञान, संस्कृति एवं कला के लिए विख्यात था। लगभग सात शताब्दियों के लम्बे काल में यहां के कलाकारों ने कला की न केवल गचकारी, पाषण एवं कांस्य बल्कि चित्रकारी के माध्यम से भी अभिव्यक्ति की थी। हालांकि ये चित्रकारियां लम्बे समय तक पूर्णरूपेण सुरक्षित नहीं रह सकती थीं, फिर भी जो आज उपलब्ध हैं, उनसे स्पष्ट है कि नालन्दा के चित्रकार इस विधा में पारंगत थे।

नालन्दा के भग्नावशेषों में स्तूप स्थल संख्या 14 से सबसे पहले चित्रकला के नमूने प्राप्त हुए।[2] घोष ने अपनी पुस्तक 'नालन्दा' में लिखा है कि इस मन्दिर की कुर्सी में रंगीन चित्रकारी का चिह्न मिलना अत्यन्त रोमांचक घटना है, क्योंकि नालन्दा में रंगीन भित्तिचित्र का यही एकमात्र उदाहरण बचा है; वह भी इसका बचा हुआ भाग खण्डित अवस्था में है तथा केवल शेर व हिरन की आकृति ही दृश्य है।[3] हालांकि यह नमूना भी अब विनष्ट हो चुका है, फिर भी इससे स्पष्ट होता है कि पाल काल से पूर्व ही नालन्दा में भित्तिचित्रकारियां होने लगी थीं।[4] इसके पश्चात् नालन्दा से तब तक भित्तिचित्र का कोई उदाहरण नहीं मिला, जब तक कि सरायटीले का उत्खनन नहीं हो गया। सरायटीले का उत्खनन 1974 ई. से 1982 ई. तक भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, पटना की देखरेख में सम्पन्न हुआ, जिससे भित्ति चित्रकला के आकर्षक नमूने दृष्टिगोचर हुए। यहीं से पूर्णवर्मा का एक अभिलेख भी प्राप्त हुआ है जिसकी लिपि 7वीं–8वीं शताब्दी मानी गयी है।[5] सरायटीले से उत्खनित मन्दिर के गर्भगृह की दीवारों के चारों तरफ भित्ति चित्रकारियां की गयी हैं। गर्भगृह से एक विशाल प्रतिमा पादपीठ भी प्राप्त हुआ है जो 8 मीटर लम्बा है। मन्दिर के विशाल पादपीठ की दो पक्तियों में बने पाषाण फलक के ऊपरी हिस्से में बेलबूटे तथा निचले हिस्से में मानवीय एवं जन्तु आकृतियां चित्रित की गयी हैं।[6] मन्दिर की दीवारों पर भी चित्रकारियां की गयी हैं। जिनमें से कुछ चित्रकारियां नष्ट हो चुकी हैं तथा कुछ अस्पष्ट हैं। चूना पुती दीवार के ऊपर हिस्से में लाल रंग से बनी कुछ मानव आकृतियां दिखाई पड़ती हैं तथा दीवार के निचले हिस्से में लाल, नीले तथा पीले रंग की ज्यामितीय एवं वानस्पतिक अलंकरण द्रष्टव्य हैं।[7]

नालन्दा से मिले भित्ति चित्रों के अवशेष सीमित मात्रा में हैं, इसलिए उनका समय निर्धारण करना कठिन है, क्योंकि सरायटीले के उत्खनन से जिस मन्दिर का अवशेष मिला है वह तो प्राचीन है, परन्तु उस पर बनी भित्ति चित्रकारियां अपेक्षाकृत बाद की हैं।[8] नालन्दा से बुद्ध की एक विशाल

पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी

खण्डित बुद्ध प्रतिमा मिली है जिसके पाठपीठ पर अभिलेख अंकित है तथा दौड़ते हुए घोड़े का चित्र भी है। अभिलेख की द्वितीय पंक्ति तथा तृतीय पंक्ति में क्रमशः 'पंचहस्ति' तथा 'करमचन्द' आसानी से पढ़ा जा सकता है। यह अभिलेख देवनागरी लिपि तथा संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण है जिससे पता चलता है कि यह अभिलेख 10वीं–11वीं शताब्दी का है।[9] इस आधार पर नालन्दा के भित्तिचित्रों का समय 10वीं–11वीं शताब्दीं माना जा सकता है। उस समय यह क्षेत्र पालों के अधीन था। अतः यह भित्ति चित्र भी पालकालीन हैं।

सामान्यतः भारतीय चित्रकारों ने अपने भित्तिचित्रों के लिए टेम्परा तकनीक का प्रयोग किया है।[10] इसमें सर्वप्रथम गुफा या मंदिर की दीवारों पर मिट्टी का लेप करके सतह को चिकनी बनाते थे, तत्पश्चात् उस पर चूने की पुताई करके चित्रकारी के लिए सफेद पृष्ठभूमि तैयार करते थे। दीवार की सतह में टिकाऊपन लाने के लिए मिट्टी के साथ अन्य कई पदार्थ, यथा गोबर, चावल की भूसी आदि का प्रयोग करते थे। सतह कठोर हो जाने के बाद उस पर रंगीन चित्रकारी की जाती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि अजन्ता एवं बाघ के गुफा चित्रों की भांति ही नालन्दा में भी उसी तकनीकि का प्रयोग किया गया है।[11] अजन्ता तथा बाघ के गुफाचित्रों में रंगों को बांधने के लिए क्रमशः सरेस तथा गोंद का प्रयोग किया गया है, परन्तु नालन्दा के भित्तिचित्रों में रंगो को बांधने हेतु किस पदार्थ का प्रयोग किया गया है, स्पष्ट नहीं है, फिर भी ऐसा लगता है कि नालन्दा में चूने को ही बंधेज के रूप में प्रयोग किया गया है। नालन्दा के चित्रकार, चित्रकारियों के लिए रेखाकंन, रंगो का आरोपन तथा उसका उतार–चढ़ाव एवं उनकी पूर्णता आदि तकनीकों से पूर्ण परिचित थे।[12]

नालन्दा की चित्रकला में सफेद रंग महत्वपूर्ण है जिसके लिए चूने को प्रयोग में लाया गया है। इसके अलावा लाल, पीले, नीले तथा काले रंगों का प्रयोग भी किया गया है। लाल रंग हेतु लौह आक्साइड तथा काले रंग हेतु कालिख आसानी से उपलब्ध था। कहीं–कहीं पर पीले रंग का प्रयोग भी हुआ है। नीले रंग को बनाने में तीसी के फूल व नील कमल के चूर्ण का प्रयोग करते थे।[13] नालन्दा के भित्ति चित्रों हेतु प्रयुक्त रंग हल्का तथा टिकाऊ है जिसे चूना पुती दीवार पर चढ़ाया गया है। सरायटीले के उत्खनित मन्दिर के गर्भगृह से प्राप्त विशाल प्रस्तर पादपीठ के ऊपरी भाग में बने पुष्प तथा ज्यामितीय अलंकरण सफेद व काले रंगों से तथा निचले भाग में बने मानव तथा पशु अलंकरण सफेद व लाल रंगों से बना है। पाषाण फलक का ऊपरी भाग दो तहों में बंटा है तथा निचले वाले भाग से अलग है। इसके अलावा, गर्भगृह की दीवारों पर भी पुष्प तथा ज्यामितीय अलंकरण सफेद, पीले, नीले, लाल तथा काले रंगों से बना है। अब ये रंग बहुत फीके हो गये हैं। सरायटीले के मन्दिर के गर्भगृह की उत्तरी, दक्षिणी तथा पीछे की भीतरी दीवारों में भी फूलों के झालर व गुलाब के गुच्छों जैसी आकृतियां बनायी गयी हैं जो कि श्वेत–श्याम है। इससे स्पष्ट होता है कि नालन्दा की रंग योजना अजन्ता एवं बाघ की रंग योजना से मिलती–जुलती है, फिर भी नालन्दा के भित्तिचित्रों का अपना अलग ही स्थान है।[14]

नालन्दा के भित्तिचित्रों को उनके विषय के दृष्टिकोण से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला भाग मानवीय आकृतियों का तथा दूसरा वानस्पतिक अलंकरणों का है। यहां की

चित्रकारियां संख्या में कम, परन्तु दर्शनीय हैं। शुरू में यह वृहद् प्रस्तर पादपीठ के सम्पूर्ण भाग पर दृष्टव्य थी, लेकिन दुर्भाग्य से इसका कुछ भाग क्षतिग्रस्त हो जाने के कारण केवल मध्यवर्ती भाग की चित्रकारियां ही शेष हैं जिनमें मानवीय एवं जन्तुओं की कलाकृतियां महत्वपूर्ण हैं। कभी अधिक तापमान एवं कभी अधिक आर्द्रता के कारण भित्तिचित्रों के रंगों की चमक धुंधली पड़ गयी है। फिर भी लगभग आधा दर्जन चित्रों को आसानी से पहचाना जा सकता है जिसमें खड़े हाथी की आकृति, नर्तकी की आकृति, एक हाथ में दर्पण लिए घुटनों के बल बैठी नारी,[15] आसन मुद्रा में जम्भल तथा कुछ वानस्पतिक अलंकरण भी हैं। इसके अलावा ऊपरी भाग में कुछ मानवीय आकृतियां भी दिखाई देती हैं, परन्तु उनकी मुखाकृति पहचान योग्य नहीं रह गयी है।[16]

जिस प्रकार प्रारम्भिक मध्यकालीन चित्रकला में चित्र के चारों ओर पुष्पालंकरणों से किनारी बनने का प्रचलन था, उसी प्रकार नालन्दा की भित्ति चित्रकला में भी चित्रों को वानस्पतिक अलंकरणों से सजाया गया है।[17] भारत के अन्य कला केन्द्रों की भांति नालन्दा की चित्रकारियों में भी वनस्पति एवं जन्तुओं के भाव द्रष्टव्य हैं।[18] मन्दिर का अधिकांश भाग कमल के फूलों से विविध प्रकार से अलंकृत किया गया है। लताओं, पत्रों तथा ज्यामितीय अलंकरणों को एक लयबद्ध तरीके से सजाया गया है। नालन्दा की एक विशालकाय बुद्ध प्रतिमा को दो पंखुड़ी वाले कमल पुष्पों से सजाया गया है। कमल पुष्पों को रंगने हेतु लाल रंग का प्रयोग किया गया है। नालन्दा से प्राप्त वानस्पतिक भित्तिचित्र पूर्णतया प्राकृतिक हैं।[19]

जैसा कि विदित है नालन्दा में कमल पुष्पों का चित्रण बहुलता में किया गया है। यहां भित्तिचित्रों में कमल पुष्पों का चित्रण कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि हिन्दू, बौद्ध तथा जैन तीनो धर्मों में कमल की समान महत्ता है और नालन्दा तीनों ही धर्मों की तपस्थली रही है। कमल भारतीय पवित्रता का प्रतीक है, इसीलिए कमल का चित्रांकन भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला दोनों में समान रूप से हुआ है फिर भी यह स्पष्ट है कि हिन्दू चित्रकारों की अपेक्षा बौद्ध चित्रकारों ने कमल के अंकन को ज्यादा महत्व दिया है।[20] नालन्दा से प्राप्त भित्तिचित्रों में सर्वाधिक स्पष्ट चित्र स्थानक हस्ति का है जो दक्षिण दिशा की तरफ मुंह करके खड़ा है। इसका चित्रण बड़ी ही कुशलता पूर्वक किया गया है, जो चित्रकार की दक्षता व तन्मयता का परिचायक है। बीरेन्द्र नाथ ने अपनी पुस्तक 'नालन्दा मुरल्स' में लिखा है कि नालन्दा में चित्रित हाथी बुद्ध के जीवन की किसी भी कथा से सम्बन्धित नहीं है।[21] परन्तु उनका यह विचार उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि हाथी तो भगवान बुद्ध के जीवन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। इसलिए बौद्ध कला में हाथी का चित्रण तो सामान्य सी बात है, वह भी नालन्दा जैसे बौद्ध स्थल से मिले हाथी के चित्रण को बुद्ध से न जोड़ना किसी तरह से उचित नहीं जान पड़ता है। इसके अलावा भी हाथी भारतीय संस्कृति में रची–बसी है। हिन्दू धर्म में इसे इन्द्र के वाहन के रूप में मान्यता प्राप्त है तथा सर्वप्रथम हाथी का चित्रण हमें सिन्धु घाटी की सभ्यता में मिलता है।[22]

नालन्दा से प्राप्त भित्तिचित्रों में बैठे हुए जम्भल का चित्र भी महत्वपूर्ण व आकर्षक है। यह चित्र भी बौद्ध धर्म से ही सम्बन्धित है। हालांकि देखने पर चित्र हिन्दू देवता कुबेर की तरह है। इसे कुबेर

का बौद्ध संस्करण कह सकते हैं। इसका उदर निकला हुआ है तथा नकुलस धारण किए हुए चित्रित है जिससे रत्नों की बारिस हो रही है। जम्भल के निकट ही एक स्त्री का भित्तिचित्र उकेरा गया है जो बैठी हुई अवस्था में है; उसके एक हाथ में दर्पण चित्रित है।[23] सम्भवतः यह श्रृंगाररत नारी का चित्रण है। इसके समीप ही एक पुरुष की आकृति भी बनायी गयी है जो उत्तर दिशा की ओर देखते हुए चित्रित है, परन्तु इस चित्र का मुखमण्डल धुंधला हो जाने के कारण इसकी पहचान नहीं हो पायी है।[24] सरायटीले के मन्दिर से प्राप्त पादपीठ पर एक दौड़ते हुए घोड़े का चित्र भी बनाया गया है जिसे हम बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कर सकते हैं क्योंकि बौद्ध धर्म में घोड़े को भगवान् बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के प्रतीक के रूप में माना जाता है।

नालन्दा के भित्तिचित्रों में पुरुष तथा नारी दोनों को धोती धारण किए हुए दिखाया गया है तथा नारी आकृतियों को कन्धे पर दुपट्टा इस प्रकार रखा हुआ दिखाया गया है कि जिससे स्तन पूर्णतः ढ़क गये हैं।[25] अजन्ता के चित्रकारों ने अपने पात्रों को जिस प्रकार विविध परिधानों से चित्रित किए हैं, वैसा नालन्दा में दिखाई नहीं देता।[26] नालन्दा के चित्रों में नारी आकृतियों को कनवाली, हार, चूड़ियां तथा बाजूबन्द धारण किये हुए दिखाया गया है जो कि उस समय स्त्रियों का गहनों के प्रति प्रेम को दर्शाता है।

अजन्ता तथा बाघ के गुफाचित्रों की शैली तथा नालन्दा के भित्तिचित्रों की शैली आपस में काफी हद तक मिलती–जुलती हैं तथा शैली की दृष्टि से गुप्त परम्परा का पालन नालन्दा के पालकालीन चित्रकारों ने किया है। नालन्दा के चित्रकार अजन्ता एवं बाघ के चित्रकारी की शैली, शरीर रचना, आभूषणों, वानस्पतिक तथा ज्यामितीय अलंकरणों आदि से परिचित होते हुए भी भित्ति चित्रकारी में अपनी अलग पहचान बनाने में सफल हुए हैं। अतः यह कहना अधिक उचित है कि अजन्ता एवं बाघ की चित्रकला नालन्दा में अधिक स्पष्टता से देखी जा सकती है[27] तथा इन भित्तिचित्रों के अध्ययन से तत्कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है।

सन्दर्भ

1. अलखदेव प्रसाद श्रीवास्तव, 'नालन्दा की स्थापत्य कला', जर्नल ऑफ बिहार पुराविद् परिषद, वालूम–VII-VIII जनवरी–दिसम्बर, 1983–84, पार्ट– II, पृष्ठ–255
2. बी.एन.मिश्रा, 'नालन्दा', वालूम–I, दिल्ली, 1998, पृष्ठ 247
3. ए. घोष, 'नालन्दा', दिल्ली, 1963, पृष्ठ–33–34
4. बीरेन्द्र नाथ, 'नालन्दा मुरल्स', जर्नल ऑफ बिहार पुराविद् परिषद, वालूम–I, जनवरी–दिसम्बर, 1977, पृष्ठ–269
5. बी.एन. मिश्रा, 'नालन्दा', वालूम–III, दिल्ली, 1998, पृष्ठ–246
6. वही, पृष्ठ– 248
7. अलखदेव प्रसाद श्रीवास्तव, 'नालन्दा की स्थापत्य एवं मूर्तिकला' नई दिल्ली, 1994 पृष्ठ–143

8. बीरेन्द्र नाथ, 'नालन्दा मुरल्स', नई दिल्ली, 1983, पृष्ठ–63
9. वही, पृष्ठ–64
10. अलखदेव प्रसाद श्रीवास्तव, वही, पृष्ठ–146
11. बीरेन्द्र नाथ, वही, पृष्ठ– 42
12. अलखदेव प्रसाद श्रीवास्तव, वही, पृष्ठ–147
13. बीरेन्द्र नाथ, वही, पृष्ठ–43
14. वही, पृष्ठ– 50
15. चन्द्रिका सिंह उपासक, 'नालन्दा–पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट' (सम्पादित) नालन्दा, 1977 पृष्ठ–82
16. पीयूष भार्गव, 'पाल शासकों के राजत्व काल में बौद्ध धर्म एवं बौद्ध कला', लखनऊ, 1996 पृष्ठ–181
17. वही
18. बीरेन्द्र नाथ, वही, पृष्ठ–56
19. वही
20. अलखदेव प्रसाद श्रीवास्तव, वही–149
21. बीरेन्द्र नाथ, वही, पृष्ठ–57
22. वही
23. अलखदेव प्रसाद श्रीवास्तव, वही, पृष्ठ– 150
24. वही
25. वही
26. बीरेन्द्र नाथ, वही पृष्ठ–58
27. अलखदेव प्रसाद श्रीवास्तव, वही,

□□

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

पहाड़ी चित्रकला का प्रारम्भिक अध्याय - बसोहली शैली

उमा पाराशर

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पहाड़ी कला अपने भीने से आवरण में प्रस्फुटित होती नज़र आती है। सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में राजा कृपाल (सन् 1678–1763) के संरक्षण में जम्मू की पहाड़ियों में बसोहली शैली का विकास हुआ। अठारहवीं शताब्दी में बसोहली शैली खूब पनपी जिसका प्रमाण हमें भागवत–पुराण संबंधी दो पूरी चित्रावलियों के रूप में मिलता है। अपने सम्पूर्ण रूप में पहाड़ी कला का विकास अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (सन् 1750 ई. के आगे) में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यह कला अपने नये आयाम स्थापित कर चुकी थी। सन् 1790 से 1805 तक के पन्द्रहवर्षीय काल में कांगडा कला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची और सुन्दरतम कलाकृतियों का सृजन हुआ। मुगल चित्रों की बँधी काया के प्रतिकूल पहाड़ी कलम प्रवहमान और छंदयुक्त है। मैटकॉफ सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उन्नीसवी शताब्दी के आरंभ में कांगडा में पहाड़ी चित्रकला की खोजबीन की। बाद में डॉ. आनन्द के. कुमारस्वामी इस ओर आकृष्ट हुये। पहाड़ी चित्रकला का विषय–क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा। मध्यकालीन भक्ति और श्रृंगारप्रधान जीवन का इतना सरस, अंतरंग, आकर्षक और रोचक परिचय पहाड़ी चित्रों में मिलता है कि देखकर आश्चर्य होता है। उसमें जहाँ संस्कृत और हिन्दी कवियों की कृतियों को लेकर चित्र बने वहाँ लोककथा सम्बन्धी चित्र भी कई संग्रहों में उपलब्ध हैं जिनमें हमीरहठ, विक्रम–वेतालचरित्र, माधवानल–कामकंदला, सोनी–महीवाल, विशेष रूप से गण्य है। भागवत के दशम स्कन्द में कृष्ण के बाल्य और यौवन का बहुत ही मनोहारी और उन्मुक्त वर्णन मिलता है जिसका चित्रण पहाड़ी चित्रशैली के सहस्त्रों चित्रों में मिलता है। कृष्ण–लीला में गोचारण, वंशी की मोहिनी तान, कालिय–दमन, गोवर्धन–धारण, दान–लीला, आदि के अनेक चित्र हैं। भोजन, वसन, श्रृंगार, ताम्बूल–वितरण, आखेट, नौका–विहार, वन–वाटिका विहार जैसी कितनी ही क्रीड़ाएँ और प्रणय–प्रसंग हैं जिनका पहाड़ी चितेरों के लिए अदम्य आकर्षण रहा है। राधा और कृष्ण को लक्ष्य बनाकर जीवन की इतनी बहुविध लीलाओं का आलेखन हुआ है कि लगता है कि जीवन का शायद ही कोई पक्ष छूटा हो। रंग और रेखाओं के सौन्दर्य से प्रस्फुटित होते हुए ये चित्र मुक्त काव्य से लगते हैं। नायक–नायिकाओं सम्बन्ध ी केशवदास की कविताएँ उनके 'बारहमासा' में संकलित हैं। प्रेम और श्रृंगार, संयोग और वियोग की स्थितियों और परिस्थितियों में उभरती–उतरती नारी के सौन्दर्य का अंकन पहाड़ी चित्रकला का ध्रुव बिन्दु है। दूसरे शब्दों में नारी का अष्ठयाम और बारहमासी जीवन ही पहाड़ी चित्र शैली का ताना बाना है। रीतिकाल के कवियों ने सूरदास से लेकर मतिराम, देव और बिहारी के समय तक शब्दों द्वारा सौन्दर्य के जो प्रतिमा स्थापित किए हैं उन पर पहाड़ी कला की नायिका बखूबी उतरती है। यदि रीतिकालीन साहित्य को पढ़कर उसमें वर्णित नायिका के चित्रमय दर्शन के लिए आँखें तरसती हों तो आँखों की यह प्यास पहाड़ी कला के चित्रों को देखकर तृप्त की जा सकती है। जहाँ पहाड़ी चित्रकला ने वैष्णव धर्म को विस्तृत रूप से चित्रित किया है, वहाँ कृष्ण लीला तो उसका सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है।

टेक्निकल असिस्टेन्ट–राजकीय संग्रहालय, झांसी

पहाड़ी चित्रकला में काव्य, संगीत और चित्रकला का समन्वय संसार–भर की कलाओं में एक अद्वितीय उपलब्धि है। चीन और जापान में भी हमें काव्य और चित्रकला के समन्वय का पता चलता है लेकिन पहाड़ी चित्रकला के समन्वय के पीछे भारतीय संस्कृति का अत्यंत समृद्ध दर्शन है।

पहाड़ी कला की विभिन्न शैलियों में रंगों का वैविध्य देखा जा सकता है। अर्थात काँगड़ा रंगों का चयन और उपयोग जिस ढंग से हुआ है वह बसोहली कलम से भिन्न है। बसोहली कलम में मुख्य व प्राथमिक रंगों (लाल, नीला और पीला) का ही अधिकांशतः प्रयोग हुआ है। लेकिन काँगड़ा व गुलेर कलम के चित्रों में इन रंगों के विभिन्न मिश्रण तथा आभा है। बसोहली की पृष्ठभूमि का अंकन किसी एक रंग या अधिक रंगों की एक ही घसीट में हुआ है। लेकिन कांगड़ा अथवा गुलेर की पृष्ठभूमि में रंगों की विविधता है और साथ ही सूक्ष्मता भी।

बसोहली कलम में प्राथमिक व मुख्य रंगों के अधिकांश उपयोग से यह सीधा संकेत मिलता है कि यह शैली काँगड़ा कलम की अपेक्षा लोककला के अधिक नज़दीक रही है। काँगड़ा कलम तो पहाड़ी कला का अत्यन्त परिष्कृत रूप था लेकिन बसोहली तथा उससे प्रभावित अन्य कलमें जैसे मण्डी, कुल्लू, आदि लोककला की परम्परा में रहीं जिससे रेखा और रंगों दोनों में ही सूक्ष्मता का अभाव है। वास्तव में सूक्ष्मता का यह अभाव कोई कलागत अभाव नहीं बल्कि एक शैलीगत विशेषता है। चम्बा कलम में बसोहली और गुलेर का मिला जुला प्रभाव देखा जा सकता है या यूँ कहें कि चम्बा कलम पनपते हुये अपने बसोहली ऐसे गुणों को छोड़कर कुछ अन्य गुण ग्रहण कर बैठी है जो उसे पूर्ववत् रूप के मुकाबले में अधिक सूक्ष्म बना देते हैं।

रेखाओं के सम्बन्ध में भी बसोहली और काँगड़ा शैलियों के चित्रों में पर्याप्त अन्तर देखा जा सकता है। बसोहली शैली की रेखाकृतियाँ काँगड़ा शैली की रेखाकृतियों की तरह सूक्ष्म व सुघड़ नही अपितु स्थूल है। काँगड़ा कलम की रेखाएँ बसोहली की अपेक्षा अधिक सुन्दर, सूक्ष्म, प्रवाहमान, लयात्मक, सजीव तथा आकर्षक हैं। वहाँ हर रेखाकृति हर प्रतिमान से सन्तुलित है लेकिन बसोहली की रेखाकृति में यह संतुलन नहीं। यहाँ यदि कलाकार ने आँखे आकर्षक बनाने के लिए उन्हे बड़ा बनाया है तो वे इतनी बड़ी बन गई हैं कि सम्पूर्ण आकृति से इनका तालमेल नहीं बैठता। नारी अथवा पुरुषों की सम्पूर्ण आकृतियाँ इतनी माँसल है कि काँगड़ा कलम की आकृतियों के मुकाबले वे स्थूल नज़र आयेंगी। जहाँ काँगड़ा कला की आकृतियों में रेखाएँ प्रवाहमान नज़र आती हैं वहाँ बसोहली कला में रेखाओं का प्रवाह किन्हीं कोणों के समावेश से अवरूद्ध–सा हो गया है। यह शैलीगत गुण तो माना जा सकता है लेकिन काँगड़ा कलम की अपेक्षा हीन होगा। यह कोणाकार अंकन केवल किन्ही आकृतियों के अंगों में ही नहीं, प्रकृति के अंकन में भी दिखाई पड़ता है। वृक्ष तथा पत्तों तक का अंकन नुकीले ढंग से हुआ है। काँगड़ा कलम में रेखाओं की यह चुभन नहीं। पहाड़–पहाड़ियों का अंकन हो अथवा वृक्ष–पत्तों का, रेखाएँ इन कोणों से बचती हुई हैं। यहाँ सम्पूर्ण लयात्मकता प्रवाहपूर्ण है।

पहाड़ी कला अपने विकास में तीन मुख्य दिशाओं में उन्मुख हुई जिन्हें बसोहली, काँगड़ा

और गढ़वाल के नाम से पहचाना गया है। अजीत घोष के विचार में बसोहली कलम सबसे पुरानी है। सत्रहवीं और अठारवीं शताब्दी के दौरान बसोहली कलम में अनेक और विशिष्ट चित्र तैयार हुए। बसोहली रावी के किनारे 74 गाँवों का एक छोटा सा राज्य था जो आज जम्मू के जिला जसरोठा की बसोहली तहसील के रूप में विद्यमान है। वहां की प्राकृतिक छटा मनोहारी है और घाटी उपजाऊ है। सोलहवीं शती में कृष्णपाल बसोहली के प्रथम शासक थे। बसोहली के अंतिम राजा कल्याण पाल (1834–46) थे। वहां के शासन की व्यवस्था को देखकर महाराजा रणजीत सिंह ने जम्मू के राजा हीरासिंह को बसोहली राज्य जागीर के रूप में प्रदान किया। कल्याण पाल के ही राज्य में बसोहली के ब्राह्मण परिवारों के पास अनेक चित्र संकलित हुये थे। 1846 में जम्मू के महाराजा गुलाब सिंह जम्मू व कशमीर के मुखिया नियुक्त हुये, जिन्होंने कल्याणपाल के लिए पेंशन निश्चित की। 1850 में कल्याण पाल ने सिरमौर की राजकुमारी से विवाह किया। उसने मनकोट से निष्काषित शासक छत्तरसिंह की पुत्री से भी विवाह किया। दोनों ही से उसे संतान न हुई और 1857 में वह मर गया। इस प्रकार बसोहली वंश की समाप्ति हो गई और उसके साथ ही बसोहली कलम की भी।

बसोहली में पालवंशी राजाओं के संरक्षण में पहाड़ी कलम पनपी थी। बसोहली के 400 वर्ष पुराना पाँच मंजिला राजमहल शिल्पकला की दृष्टि से निखरा हुआ था, उसमें सुन्दर नक्काशी हुई थी। यह पहाड़ों का सर्वोच्च आश्चर्य के नाम से सुविख्यात था। राजा महेन्द्र पाल ने महल की दीवारों पर बसोहली कलम के चित्र बनवाये थे।

बसोहली कलम के पोषकों में राजा मेदनी पाल और अमृतपाल गण्य है। बसोहली में ही रानी मालिनी के संरक्षण में गीत–गोविन्द विषयक अनेक चित्र अंकित हुए जो कला की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। रानी मालिनी के चित्रकला के प्रति अनुराग ने उन्हें एक निपुण कलापारखी बना रखा था। वह भगवान विष्णु की उपासक थी और उन्हीं की प्रेरणा से मानकू तथा अन्य कलाकारों ने गीत गोविन्द के अनेक विषयों को चित्रित किया।

केवल अपने अंतिम चरण के कुछ इने गिने चित्रों के अतिरिक्त बसोहली कलम पर मुगल प्रभाव नज़र नहीं आता लेकिन भारतीय कला के आदिश्रोत अजन्ता की छाप का आभास जरूर होता है। अजीत घोष के शब्दों में 'बसोहली कलम के श्रेष्ठतम काल–सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी में सुन्दरतम चित्रों में कतिपय चित्र बंगाल के अमर कवि जयदेव लिखित गीत गोविन्द के दृष्टांत रूप में उभरे हैं। ये चित्र अपनी सुन्दर रेखा कृतियों, बढिया रंगों और प्रकाश के लिए समान रूप से अद्‌भुत हैं। डब्लू.जी आचर की निम्न उक्ति बसोहली कलम के गीत गोविन्द सम्बन्धी चित्रों पर बहुत सही उतरती है, 'भारत में अन्यत्र भी चित्रकला में रंग और रेखाओं के स्पष्ट गुण उभरे हैं लेकिन पंजाब हिमालय से बाहर कहीं भी रूमानियत, हर्षोन्नाद और विलक्षणता से युक्त इतनी सुन्दर और विशिष्ट अभिव्यक्ति नहीं मिलती।'

बसोहली शैली का समय सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नींसवीं शताब्दी के आरंभ तक रहा।

अठारहवीं सदी में बसोहली शैली अपनी सर्वोत्कृष्ट अवस्था में पहुँची। इन चित्रों का विषय समूची पहाड़ी कलम के अनुरूप ही रहा जिनमें राजाओं के चित्र, पौराणिक कथाएँ तथा सामाजिक रीतियों का अंकन था। श्रीमद् भागवत, रामायण इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों के सैकड़ों चित्र बने हैं। महाकवि जयदेव लिखित गीत गोविन्द को लेकर भी एक सुन्दर चित्रावली का सृजन हुआ है। श्री अजीत घोष के विचार में यह सत्रहवीं शती से सम्बन्धित है। बसोहली कलम अधिकाशतः नायिका के अतिरिक्त भानुदत्त की रसमंजरी, केशवदास की राम चंन्द्रिका और जयदेव के गीत गोविन्द को चित्रित करती है। बसोहली कलम की नायिका सम्बन्धी चित्रों के सबसे बड़े संकलन बॉस्टन म्यूज़ियम ऑफ फाईन आर्ट्स और अहमदाबाद के 'कस्तूर भाई लाल भाई' संकलन में हैं। 'गीत गोविन्द' संबंधी बसोहली कलम के चित्र लाहौर स्थित सेण्ट्रल म्यूजियम में भी है।

बसोहली कलम अपनी अभिव्यक्ति में अधिक मुखर और स्पष्ट है। उसमें रंग उजले हैं जिसमें गहरे नीले, पीले, लाल और काले रंग की प्रधानता है। रंग शोख और चटख होने पर भी विविध भावों यथा, करुणा, उल्लास, उदासीनता और शोक के प्रति सजग करते हैं। बसोहली चित्रों की अन्य विशेषता हाथ और अंगुलियों की खास बनावट है। यहां भावांकन में अंगुलियाँ निश्चित रूप से सहायक हैं।

अजन्ता के भित्तिचित्रों में विभिन्न मुद्राओं का अंकन विभिन्न भाव प्रेषण के लिए हुआ है। बसोहली में इस दृष्टि से अजन्ता का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित है। बसोहली चित्र शैली अन्य पहाड़ी चित्र शैलियों से किन्हीं विशिष्ट बातों पर ध्यान देने से अलग पहचानी जा सकती है। काँगडा चित्रों की अपेक्षा बसोहली के चित्र के ग्रामीण है। इनमें तेज, स्फूर्ति और विलक्षणता तो है लेकिन काँगड़ा कलम की सुकुमारता नहीं। सम्पूर्ण शैली अपने आप में बल और ओज की परिचायक है। रेखाएँ अलग से देखने में भी रूखी सी लगेंगी लेकिन सम्पूर्ण आकृति के भाव प्रेषण में उससे अन्तर नहीं आता। कांगड़ा कलम की नारियां रूप रंग मुद्रा और अपनी समूची अभिव्यक्ति में विशिष्टता नारी सौन्दर्य को मुखरित करती हैं। लेकिन बसोहली शैली में नारियाँ अपने अंकन में ओजपूर्ण पुरुषों के निकट चली गई हैं। मुखड़े की आकृति में होठ छोटे हैं, नाक लम्बी और झुकी हुई है, गाल भरे पूरे हैं, ललाट पीछे हटता हुआ सा है, ठोडी कुछ गोलाकार सी है। बसोहली चित्रों की एक प्रमुख विशेषता कमल के समान बड़ी और लुभावनी आँखें हैं। बड़ी आँखें यों भी भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में सुरूचिपूर्ण समझी जाती है। इन चित्रों में यह उक्ति चरितार्थ होती नज़र आती है **'ज्यों बड़री अखियाँ निरखीं, अखियन को सुख होत'**। बसोहली कलम में शरीर, चोली, घाघरा, दुपट्टा आदि भीने वस्त्र से झाँकता नज़र नहीं आता। वस्त्र तथा आभूषणों को उनकी सूक्षमता में निहारा जा सकता है। स्त्रियों की मुखाकृतियों–कपोल या माथे पर बालों की लटें दिखाई देती हैं। स्त्रियों के केशों के संबंध में बसोहली कलम की विशेषता स्पष्ट है। इन चित्रों में बाल अधिकांशतः खुले हैं, वेणी या जूड़े में बधें हुये नहीं। पुरुषों की आकृतियों को देखने से पता चलता है कि उनका शरीर ऊपर से ही किसी वस्त्र से ढँका हुआ नहीं है। अंगरखा उजले पीले रंग में है ओर किनारा सुनहरी रंग में। पुरुष अनेक तरह के आभूषण पहने हुये है। चित्रों की भूमिका समतल नजर आती है और

लगता है ब्रश की एक ही घसीट से रंग पोता गया है। यह रंग गहरा पीला, गहरा या हल्का हरा, हल्का लाल और सीपिया है। किन्हीं चित्रों के ऊपरी आशिंक भाग में आकाश दिखाई देता है जिसमें चाँद छटा को उभारता नज़र आया है। चित्रों के किनारों पर अधिकतर पीला, लाल या सिंदूरी रंग देखने को आता है। अपनी सम्पूर्णता में रंग शोख नज़र आते हैं। रंगों के उपयोग में कलाकारों की दक्षता का आभास होता है।

जहाँ हम पहाड़ी कला में अजन्ता कला और मुगल कला के प्रभाव देखने में अभ्यस्त हैं और उसे आसानी से स्पष्ट रूप में स्वीकारते हैं, वहाँ बहुधा हम स्थानीय परिप्रेक्ष्य की अवहेलना कर जाते हैं। हमें यह बात समझनी चाहिए कि कला का भरण पोषण बेशक राज्य प्रश्रय में ही हुआ हो और कलाकार लोक जीवन से हटकर नहीं जिया है। इस प्रकार समस्त पहाड़ी कला के अनुरूप ही बसोहली कलम की पृष्ठभूमि में लोक कला की समृद्ध परम्परा नज़र आती है। यद्यपि पहाड़ी कलम के नाम से आज कोई भी चित्रकला जीवित नहीं तथापि उसका भारतीय कला के इतिहास में निश्चय व गौरवपूर्ण स्थान है। भारतीय कला अपने समूचे रूप में पहाड़ी कलम के बिना अधूरी दिखाई देती है। अठारहवीं शती की पहाड़ी कलम को ही यदि सम्पूर्ण भारतीय चित्रकला का तत्कालीन रूप मान लिया जाये तो भी उसके आंकलन में अत्युक्ति नहीं कही जा सकती। यदि अजन्ता भारतीय कला का आदि स्रोत है तो उसका संरक्षण पहाड़ी कला विशेषकर बसोहली कलम में चेतन रूप से हुआ है। एक बहुत बड़ी बात यह है कि पहाड़ी चित्रों में भारतीय दर्शन मुखरित हुआ है। कला और दर्शन के सामंजस्य को भारतीय परंपरा के अनुरूप चित्रों में मुखर करना पहाड़ी कलम की सबसे अधिक उपलब्धि रही है। पहाड़ी कलम पर यदि मुगल शैली की छाप नज़र आती है तो उसने अपने विकास में किसी भी स्तर पर लोक–कला की प्राचीन परम्परा के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई है हिन्दु पौराणिक गाथाओं से यह अनुप्राणित और अनुप्रेरित है। जहाँ मुगल शैली मुगल बादशाहों की रंगीनियों और उनके प्रभुत्व की अभिव्यक्ति बनकर रह गई है, वहाँ बसोहली कलम अपने निखार में भारतीय दर्शन के प्रति उन्मुख होकर उसके सुन्दर, आकर्षक और मनोहारी रूप को अंकित करने में विशिष्ट रूप से सफल हुई है। देश तथा विदेश के जिन–जिन संग्रहालयों में बसोहली कलम के चित्रों ने स्थान पाया है वहाँ यह मूल्यवान सांस्कृतिक सम्पत्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. भारतीय संस्कृति का आधार–लेखक, श्री अरविन्द।
2. राजपूत पेन्टिंग्स–लेखक, डॉ. ए.के. कुमारस्वामी।
3. कांगडा पेन्टिंग्स आफ भगवत् पुराण– लेखक, डॉ. एम.एस. रन्धावा।
4. पहाड़ी चित्रकला–लेखक, किशोरी लाल वैद्य और ओम चन्द्र हाण्डा।
5. सेन्टर्स आफ पहाड़ी पेन्टिंग्स।

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

From Within And Without-Udaipur Painting Revisited

Gauri Parimoo Krishnan,

This paper addresses a few issues with regards to Mewar painting from Udaipur of the 17th-18th centuries based on the paintings in the collection of O, the National Gallery of Victoria, Melbourne; City Palace Museum, Udaipur and few private collections. This is a joint paper between Carol Cains (assistant curator, NGV) and myself looking at Mewari painting of the 18th century from records of European visitors such as Tod, Weeks, Bernier, Emily Eden and Mewari texts such as Veer Vinod for a start. This is a working paper and will evolve in future.[1]

The perspective I chose to view is called the 'Mewari Worldview', a term I use to classify the intrinsic qualities of the painting i.e. figure type, constume, accessories, architecture, vegetation, gesture and posture, painterly conventions such as halo, portraiture, perspective, hierarchical sitting or standing arrangement of the entourage etc. Stylistic features of male and female face and figure, building, animal, clothing, carpet, decorative pattern on textile and architecture are other intrinsic elements that suggest the worldview. On another plane, worldview is discerned from the way artists of the Udaipur court have assimilated the various influences stemming from their association with the Mughals, Europeans and the indigenous *bhils*. Also the western Indian painterly tradition stemming from the Jain style and the Chaurapanchashika style that went on to evolve into Mewari style has also been considered. It is common knowledge that the Rajputs lived by their high ideals which set them apart from an average Indian ruler, this itself reflected in their chivalry, bravery (Rana Pratap), dedication (Meera and Panna dai) and moral values (Padmini and karnavati). As for the Mewari rulers of the line of Bappa Raval, kingship did not mean annexing other's land and expanding the kingdom but protecting the inherited kingdom from outside invasion and ruling it as regents of Eklingji. This ideal is followed till today by the current Maharana as well. Seeing these values reflected in the Udaipur paintings is one aspect and to see the larger than life size 'image' of the haloed Maharana is another. Thus, real, ideal and unreal or imagined tend to coexist in Mewari worldview.

ACM, Singapore Carol Cains, National Gallery of Victoria, Melbourne

Written records, histories, rasos and khyats are another aspect of the worldview however accurate or imagined. Besides the inscriptions on the paintings themselves which record most of the names of the rulers and their nobles present at the moment at a particular event, I have referenced Veera Vinod of Shyamaldas a recorded history of Mewar, the Indian subcontinent and the world from the beginning till 1884. Veer Vinod compiles inscriptions from official records, *prashastis, ahadnamahs*, copperplates, correspondences, besides of course *firmans* and inscriptions from *patachitras*, cloth paintings. This proves that besides their painterly qualities, these paintings were essentially commissioned as aesthetic sources of recording historical events, of major and minor importance in which the rulers were directly or indirectly involved.

My recent most association with Mewari painting goes back to 2003 when we commissioned discovery room for children in the Asian Civilisations Museum Singapore to be painted like Udaipur palace within the South Asia gallery. Here the tabloid scenes of Mewar genre painting were transferred from ready-made stencils onto walls and the ceiling, draping and transforming the British colonial interior of the Museum building.

It is worth noting that the 17th century compositions such as the Ramayana, Bhagavat Purana, Gita Govinda actually paved the way for the 18th century compositions that became bigger in format, more detailed, grand in scale and vision. Besides mythological themes more and more historical and anecdotal events where portraits of the rulers, scenes in the palace, on hunt, war and festivals became the more preferred genres. The artistic concerns remained quite the same only the facility to include more details became easier and achievable. The perspective used in Udaipur paintings can be suffocatingly intimate verging on close encounters where the viewer can feel visual proximity to the subject he is viewing. Whereas, the large format architectural paintings from multiple perspectives bear voyeuristic wide angled views that take the viewer's gaze into many intimate corners capturing activities happening in various parts of the palace in a momentary simultaneity. The artist's gaze appears like a bird's eye view or a hot air ballon view hovering over the subject. Sometimes several perspectives are combined in one and the same painting. Sometimes the main protagonist is seen ten times within the same panoramic picture suggesting

unfolding time and how events turned out especially related to hunt, war, entertainment in the palace or formal audience by a king. This continuous and simultaneous narrative almost presupposes the idea of moving images. (Gajendra Mewari artists seems to have a penchant for action rather than static scenes. Had they been given cameras in the 18th century, they would have preferred movie camera to still camera. In the case of the Mewari artists, the visual experience they were trying to capture is one of action and not of that of a snapshot that they ended up imitating from still photography in the 19th century. It is for the first time that we see portraits of the Maharanas from front with a fixed vantage point, unlike the previous profile portraits with a unidirectional flow or face to face arrangement. Although purists view the art of the 17th century Mewar painting as the most characteristic of the tradition, free of Mughal, European and other influences including photography, it is the eclectic Mewari style which I am interested in exploring here which is refreshing, quirky and full of surprises. Painting, in the Udaipur court was mainly a record keeping activity, it should be seen as an art form later. This is not to undermine the role of the artist but to understand the nature of the artistic activity and how it was put to use by the various Maharanas. In looking at a painting of buffalo sacrifice of 1954 painted by Prabhulal Verma of the reign of Maharana Bhupal Singh based on an unidentified photograph of the same subject, one can see how photographic realism took over the fancy of the Maharanas and the artists that the entire language of Mewari style was foregone in favour of a so called modern look. These kinds of painted portraits and paintings of photographed events from a fixed vantage point became popular ever since the appearnace of the camera. Thus the Mewari artist in the 20th century began to see through the camera and lost his entire perception of pictorial reality that the previous generation of artists had worked out so ingeniously.

As gleaned from Veer Vend and looking at the personalities of the various Maharanas, through the various paintings depicting them, I have chosen to look at paintings created during the reigns of Amar Singh II (b.1672, r.1698-1710), Sangram Singh II (b.1690-d.1734) and Jagat Singh II (b.1709-d.1734-51). Maharanas before them did not have their portraits painted and thus not many documentary evidences of inscribed portraits are found. Jagat Singh I, the great patron of Sahibdin and Manohar who commissioned major manuscript illustra-

tion projects under his patronage such as the Ramayana and Bhagavat did not get his own portraits drawn.[2] This was a new genre that developed with Maharana Amar Singh onwards as can be noted from the Udaipur collection at NGV.

Amar Singh-[3] (b.1672-d.1710)

He was of medium height, wheatish complexion, big eyes and broad shouldered. He had a quick temper and was quite ruthless in the state of anger. He introduced drinking in the house of the Sisodia. In a state of inebriation, he did some strange things just like Mughal emperor Jahangir did. He had some good qualities, and organised the Mewar state very well. Organisation of the parganas, darbar discipline, rules for the entry and exit of the sardars from the darbar were well laid down, he even organized the offices and workshops. He was a brave soldier who took part in battles as well as skirmishes. He built the "Shiva Prasanna" Amar Vilas palace, a grand and high quality structure from white stone. It is now known as the 'badi mahal'.

Maharana Amar Singh encouraged portrait painting as well as pale palette paintings during this period. Grisaille style nim kalam portrait of Maharana Amar Singh suggest that he was encouraging his artists to change their usual palette deriving influences from the prevailing Mughal examplex. Udaipur artists adapted it by adding heavy stippling and influence that could also be ascribed to the influence of European engravings in circulation in Mughal and Rajput courts.[4] Portraiture slowly supplanted the importance of mythological paintings in Udaipur court, this is attested to by the profusion of portraits even of attendants and chauribearers whose names are inscribed on the page behind including the names of the sardars present at the event. Another Mughal style portrait of Amar Singh holding a flower and wearing chakdar jama of a much later period suggests the influence of Mughal stylistic features practiced quite freely in paper and cloth paintings all over Mewar.

An important event of the period is illustrated in this painting that attests to the historical event of 1708 that marks the last phase of the struggle between Marwar and Mughal courts. Here Maharana Amar singh is seen riding with Raja Ajit Singh of Jodhpur on his right and Sawai Jai Singh on his left. The older person in the foreground is Durgadas Rathor, a senior statesman of Rajasthan

of that era. Bahadur Shah sent a stern firman to Amar Singh when the above two kings deserted him and reached Udaipur. Durgadas played a key role in advising the three kings in this situation. This is a 19th century version of an earlier painting.[5]

A very fine and large format painting of the holi festival showing Maharana Amar Singh seated under a canopy playing holi with his sardars records the finest illustration of the landscape along with portraits of his time. Similar landscape detailing can be seen in the Sur Sagar painted in his time as well.[6]

An unusual but promising painting of Kotah palace during Diwali painted in the late 17th century seems to be noteworthy here as it helps to draw our attention to the varied perspectives and unusually grand architectural vistas that will be signature traits of Mewar paintings in the next century. The large format, people and activities happening in many courtyards within the palace, placement of gates, arches and chatris in a spatial relation of constantly changing perspectives draw our attention to the panoramic view the artist attempts to capture. This genre was to develop and remain in favour until the 20th century.

Sangram Singh II-b. 1690-r.1710-d.1734

Veer Vinod describes him as short, with wheatish fair complexion, pleasant and always obliging others. He was punctual, courageous and honest. Right from the highest-ranking sardar of Salumbhar to the lowest attendant in his court obeyed his orders.[7] Peace, prosperity and the arts flourished in Mewar under Maharana Sangram Singh. He devoted himself to embellishing the city of Udaipur with gardens and added to the growing City Palace. His coronation was attended by all the sardars although special mention is made of the visit of Sawai Jai Singh of Jaipur who described the Maharana as containing the essence of the Dikpalas on the day of his coronation and therefore perceived him as Rama and his queen as Janaki. In this manner, Jai Singh mingled with affection. Even Sangram Singh sent his sardars as well as Jai Singh off with respect and honour after the whole event was over.[8]

Veer Vinod mentions that Maharana Sangram Singh's lawyer Biharidas entered the court of the Mughal Emperor Farukhsiyar with his prowess at chess and the emperor himself played with him regularly and this paved the way for

Mughal ruler's softening attitude towards the Mewari rulers. The *jiziya* tax was abolished, permission to construct the *tripolia* gate (which stands even today as an entrance to the Udaipur City Palace complex) was sought as well as an agadh (ground for elephant fights) were constructed. Due to this Biharidas' rank in the Mewar court kept on rising.[9]

Portrait of Sangram Singh with Dashavatara and other mythological cartouches one of the earliest portraits with *lavazama* underscoring the diving quality of the ruler. The humility of diwanji of Eklingji was slowly superseded by divine royalty suggested by the halo around the head of Sangram Singh including the crescent moon. He even holds a gesture of benevolence.

Large scale views as if captured from a hot air ballon seem to have become trendy and would remain in favour for more than a century to come. Every festival, hunts, elephant fights and historic events were captured with grandeur and passion. There is another bird's eye view of the Pichola Lake near Jag Mandir Where Maharana Sangram Singh is seen watching crocodile feeding This is not only an unusual subject matter but an unusual composition as well. The accuracy of the architecture is remarkable. Another painting of Sangram Singh watching an elephant fight is of the same genre.

Continuous narrative is seen in the representation of the sons of Sangram Singh coming to pay homage to him on the Rang sagar lake, the party is shown several times in orange garb while the city of Udaipur with the palace in the centre cover the rest of the composition. Sangram Singh had sixteen queens and Jagat Singh was the son of the third queen. His other son Nathji was the son of the tenth queen who is seen prominently accompanying Jagat Singh in his official portraits.

Tod's[10] assessment of Maharana Sangram Singh-

His asessment of Maharanas of the past was based on anecdotes that were part of Rajput lore, hence his assessment of Maharana Sangram Singh II (ruled 1710-1734) as a

'Patriarchal ruler, wise, just, and inflexible, steady in his application to business, regulating private and public expenditure, and even the sumptuary laws, which were rigidly adhered to...'

His was the last reign in which Mewar was relatively stable and prosperous and free from internal and external threat. Tod recounts the following story to illustrate his assessment;

'The Chohan of Kotario, one of the highest class of chieftains, had recommended an addition to the folds of the court robe, and as courtesy forbids all personal denial, his wish was speedily assented to, and he retired to his estate pluming himself on his sovereign's acquiescence. But the Rana, sending for the minister, commanded the sequestration of two villages of Kotario, which speedily reaching the ears of the chief, he repaired to court, and begged to know the fault which had drawn upon him this mark of displeasure. 'None, Raoji; but on a minute calculation I find the revenue of these two villages will just cover the expense of the superfluity of garment which obedience to your wishes will occasion me, and as every iota of my own income is appropriated, I had no other mode of innovating our ancient costume than by making you bear the charge attending a compliance with your suggestion'. It will readily be believed that the Chohan prayed the revocation of this edict, and that he was careful in the future of violating the sumptuary laws of his sovereign.'[11]

The painting, depicts Sangram greeting his sons on an isthmus in Pichola lake near a havelli or villa which would have been owned by a noble such as the Chohan of kotario, and a village like the one from which he derived his revenue. Sangram Singh's hunting expeditions are well known and they have been illustrated in grand compositions. General Godfrey Charless Mundy[12] describes hunting blackbuck with cheetah,

'The hunting leopard is a long, flat-sided animal with a very neat small head; and unlike the rest of the feline species, its tail is flat instead of round'.

'The leopards are each accommodated with a flat topped cart, without sides, drawn by 2 bullocks and each animal has two attendants. They are loosely bound by a collar and rope to the back of the vehicle and are also held by the keeper by a strap around the loins. A leathern hood covers their eyes. The antelopes being excessively timid and wild the best way to enjoy the sport is to sit in the cart alongside the driver; for the vehicle is built like the hackeries of the peasants, to the sight of which the deer are accustomed, it is not difficult by skilful management to approach within two hundred yards of the game.

On emerging from a cotton field we came within sight of four antelopes and my driver contrived to get within100 yards of them ere they took alarm. The cheetah was quickly unhooded and loosed from his bonds; and as soon as he saw the deer dropped quietly off the cart on the opposite side to that on which they stood and approached them at a slow crouching canter, masking himself by every bush and inequality of the ground, which lay in his way. As soon however as they began to show alarm, he quickened his pace and was in the midst of the herd in a few bounds.

He singled out a doe, and ran it close for about 200 yards when he reached it with a blow of his paw, rolled it over, and in an instant was sucking the life blood from its throat.

A second cheetah was slipped at the same time, but after making four or five desperate bounds by which he nearly reached his prey, suddenly gave up the pursuit and came growling sulkily back to his cart.

As soon as the deer is pulled down a keeper runs up, hoods the cheetah, cuts the victim's throat, and receiving some of the blood in a wooden ladle thrusts it under the leopard's nose. The antelope is then dragged away and placed in a receptacle under the hackery (cart) whilst the cheetah is rewarded with a leg for his pains.' (Mundy 1858 : 24-25)

The hunt was not always successful, as Emily Eden describes in Up the Country

'The king has also sent greyhounds and huntsmen and a great many beautiful hawks, and we are going out hunting this afternoon if the elephants are rested after their long march..... Our hunting expedition was on a grand scale, huntsmen and spearmen and falconers in profusion, and[12] elephants and 5 miles of open country and the result was, that we killed one innocent and unsuspecting black crow, and two tame paddy birds, which one of the falconers quietly turned out'. (Eden 1866 : 68)

In 1713, Maharana built Nilakantha Mahadeva temple on the eastern side of the Pichola Lake. At the behest of his mother who was the daughter of Rao Sabal Singh of Bedala and wife of the deceased Maharana Amar Singh another

temple was built for Vaidyanatha Mahadev. The queen mother gave a tuladana donation in gold besides many other donations. A prashasti of this period dated 1718 records the above event and is found in the temple of Vaidyanatha, on the western side of the Pichola Lake in the village of Syarma.[13] Shyamaladas records a few painted inscriptions in Veer Vinod to which the painting of this event could be traced although the exact painting has not come to light.[14] The painting actually records all the names of the sardars present including Maharana Sangram Singh, his heir Jagat Singh and his many sons, queens, attendants, elephant Madanmurat and his consort. This painting records the name of the queen as Devakuwarji and that she got the temple renovated and arranged a goth to commemorate the event.[15]

An unusual battle scene of Sangram Singh era shows the Maharana seated in a pavillion while the battle being narrated to him is see in the foreground. Here past and present have fused together to form a visually cohesive picture. The battle is very closely fought as the formation of the rear guard and the foot solidiers shows acute planning while the chaos of the combating cavalry adds dynamism and highlight to the battle. Topsfield[16] identifies it as the battle of Bandhanawara where Mewar forces defeated and slain Ranabaz Khan Mewati, who was granted the contested parganas of pur, Mandal and Badnor in northern Mewar by Mughal Emperor Bahadur Shah. This happened in 1711 and the painting of c. 1730 is inscribed Mewati babat (related to Mewat)

Jagat Singh II : r. 1734-d. 1751

In contrast, Sangram's son, Maharana Jagat Singh II (ruled 1734-1751), is described as follows : 'Addicted to pleasure, his habits of levity and profusion totally unfitted him for the task of governing his country at such a juncture (during a period of war with the Maratha people), he considered his elephant fights of more importance than keeping down the Mahrattas. Like all his family, he patronised the arts, greatly enlarged the palace, and expended 250,000 in embellishing the isles of the Peshola. The villas scattered over the valley were all erected by him, and many of those festivals devoted to idleness and dissipation, now firmly rooted at Oodipoor, were instituted by Juggut Singh II'.[17] Veer Vinod[18] describes him as flabby, wheatish clear complexion, with smiling face and kind hearted. He was a great patron of the arts but he was debouch and arrogant.

The whole administration broke down during his time, as there was no trust between the Maharana and his subjects.

Magnificent costume and jewels reinforced the Maharana's status. Some of these jewels are described in the journals of Emily Eden, a young Englishwoman who lived in India from 1836-42, when she accompanied her brother, Lord Auckland, who was Governor General of India, on his travels throughout the country. She recorded her impressions in long letters written to her sister, which were published in London in 1866 under the title *Up the Country* (Eden 1866) In one of these letters, describing an occasion Emily witnessed at the court of Oudh she writes: 'Such jewellery as we saw yesterday morning... There was an ornament called a surpeche which the rajahs wear in their turbans... It was a diamond peacock, holding in his beak a rope of enormous pearls, which passed through an emerald about the size of a dove's egg. Then there came the tassle-the top was of immense diamonds, with a hole bored at one end of them, and they were simply drawn together into a sort of rosette, without any setting. Then there came strings of pearls, each ending in three large diamonds... they stick it into their turbans with a gold hook and the tassle hangs over one ear.' (Eden 1866 : 68) The description reminds us that the paintings accurately describe seemingly fantastic jewels.

Maharana Jagat Singh is said to have built the Jag Nivas palace in the Pichola Lake between 1743-46 as a reaction to his father's taunt. Jagat Singh built this palace so that he could make short visits there with his zanana. Its vastu ceremony is recorded in Veer Vinod, which mentions the presence of all his queens, their sons and the sardars who were present at that time. Even the horses given as gift to the sardars are mentioned here and the celebrations went on form three days.[19] Rasalia (Slide 20), Rasalia with Ganeshvesha are two paintings which suggest that they were painted in Jag Nivas where Jagat Singh may have spent time watching Rasalila and even dancing with the ladies of the zanana.[20] These paintings are one of the earliest recorded visual references to the practice of Rasalila in the 18th century. The persormers appeared in different vesha, dressed in various characters, they used various props and women also participated. In one Rasalila painting, even Jagat Singh, Nathji and their younger brothers are seen participating. This certainly augments the image of Jagat Singh

as a patron of the arts who spent more time enjoying finer aspects of life than protecting his kingdom or settling rifts within his own kingdom.

Visit to the Gulab bari brings to light his passion for enjoying the finer aspects of life amidst the strife and struggle for power the whole region was going through. Even here the Maharana and his sardars are watching a ramalila performance with actors dressed as Shiva and Parvati. The perspective in all these paintings in the hot air balloon view, but the foreground and the background are divided up in a chronological order of 'before' 'during' and 'after'.

From the records of Veer Vinod we learn about the importance given to the loyal animals that the sardars were given as gifts. Horse and Elephant portraits in this slide along with their names inscribed on the paintings reflect the passion and significance attached to the animals. The artists of the Udaipur court were surely influenced by the Mughal artists and the European painters and engravers who may have brought to their attention zoological and botanical studies.

The last painting draws our attention to the presence of Europeans in the Udaipur darbar and what they encountered. This painting of Sarup Singh with Sir Henry Lawrence and his brother painted almost with photographic detail in the lower chitrasala of the Udaipur palace. All the sardars and morchal carriers' names are inscribed.[21]

The thick, padded mats, also utilised by the Rajputs as floor coverings are mentioned in an amusing account of a durbar, or meeting, that took place in 1829 at a Maratha chief's camp, and attended by the author, G.C. Mundy, an Englishman, who writes[22]

'The floor was carpeted with white cotton, so thickly quilted that we sank up to our ankles as we walked; and to this stuffing we were subsequently much beholden, as there was not such a quadruped as a chair in the Maratta camp; and during the audience, which lasted a full hour, we were obliged to sit cross-legged, like Turks or sailors, on saddle cloths spread on the floor, the characteristic seat of the warlike Maratta to whom the unsheltered and unfurnished bivouac is a natural home. In sitting, the great point to be observed was keeping the soles of the feet out of sight, an article of etiquette which the native chiefs easily accomplished by sitting on their heels, with their knees resting on the ground;

but this posture, I found totally incompatible with our armed heels. We therefore squatted, each after his own fashion: nor do I think any novelty of attitude was struck out which was likely to be adopted by the natives, who did not disguise their amusement at the unpliable rigidity of British limbs, the uneasy contortions of which they were in a good situation to witness, as we were all drawn up on one side of the narrow passage, whilst they were marshalled in a parallel line confranting us. At the.........................paun were handed round, and we rose to depart with legs so cramped and benumbed, that we quitted the presence more like a troop of hobbling Chelsea pensioners than sound and active adolescents'.[23]

This composition brings us full circle to the point where we started with the formal portrait of Maharana Fateh Singh with the Earl of Elgin. The picturisation in Udaipur painting seems to be guided more and more by European pictorial trends and governed by the technology of camera. The hot air balloon view has finally been replaced by the lensman's view, but the ultimate objective to record still remains unchanged. From the earliest mythological manuscripts the genre of Mewar painting at Udaipur seems to have conciously changed in format as well as vision to accommodate the earthly power and prowess of its divine rulers. These paintings enlarged the format of Udaipur painting almost as if encompassing the Mewari worldview revealing life and times of its erstwhile rulers. The influences from Mughal and European pictorial traditions are undeniably present, their adaptation was well blended and digested.

Bibliography :

- Mewar Painting in the seventeenth century - Moti Chandra, Lalit Kala Akademi, India, 1957.
- Paintings from Rajasthan in the National Gallery of Victoria- Andrew Topsfield, Melbourne, 1980.
- Annal and Antiquities of Rajasthan - James Tod, William Crooke, 1829,
- The Mughal Empire - John F. Richards, The New Cambridge History of India, Cambridge University Press, 1993.
- Stones in the sand - The Architecture of Rajasthan, (ed) Giles Tillotson, Marg Publications, Vol 52, No. 4, June 2001.

- Veer Vinod - History of Mewar - Shyamaldas, Udaipur, 1884, reprint New Delhi, Motilal Banarasidas, 1986.
- Rajput - Sons of Kings, Exhibition brochure of the NGV International's special exhibition, 13 November- 3rd April, 2005, Melbourne; 24th June- 4th September 2005, Sydney.
- Sotheby's, 19th Century Photographs of India : The Ehrenfeld Collection, London, 25th May 2005.

Reference :

1. We had been looking at these paintings over sometime together in 2003-04 while Carol was preparing for the exhibition Rajput : Sons of Kings for a temporary exhibition at Melbourne and presently at Sydney.
2. Andrew Topsfield suggests that in Paintings from Rajasthan in the National Gallery of Victoria, 1980, p.10. also proposes that the mid 17th century equastrian portrait in the National Museum. New Delhi may be of Jagat Singh, also see in Topsfield, 1980, pg.56, AS 49, 1980, which he suggests could be Jagat Singh (1628-52) or Jai Singh (1680-98) of Mewar.
3. Amar Singh from Veer Vinod, Vol II, Section II, pg. 789
4. Topsfield, 1980, pg.11
5. Topsfield, 1980, pg. 63 : Durgadas Rathor, Raghuvir Singh (Hindi trans. 1979). National Book Trust, New Delhi, 1975; This eent is also described in detail in Veer Vinod.
6. ibid
7. Veer Vinod, Vol II, Section II, pg 981
8. Veer Vinod, Vol II, Section II, pg. 938
9 Veer Vinod, Vol II, Section II, pg. 956
10. From Carol Cains unpublished paper.
11. (Tod 1957 : 326)
12. Godfrey Charles Mundy in his 'Journal of a tour in India', published in 1858. See Topsfield 1980, pg.75 AS 93.1980
13. Veer Vinod, Vol II, Part II, pg. 956
14. ibid
15. ibid, pg. 957
16. Topsfield, 1980, pg. 82

17. (Tod 1957 : 326) from Carol Cains' unpublished paper
18. Veer Vinod, Vol II, Section II, pg. 1245
19. ibid, 1235
20. Topsfield, 1980, pg. 93-95, mentions that 8 other paintings of this group are known in private collections, all are dated in kartik 1736 and are believed to have been painted by Jai Ram at least in part.
21. This event is mentioned by many sources, for detailed account see Topsfield, 1980, pg. 164
22. From Carol Cains' unpublished paper
23. Topsfield, 1980, pl 65. The Englishmen depicted in this later painting seem to be equally uncomfortable.

❐❐

पहाड़ी चित्रकला में चित्रित नायिकाओं के वस्त्र

डॉ. ए.के. पाण्डेय

मानव सभ्यता के उदय के साथ–साथ मानव समाज में वस्त्रों और आभूषणों के लिए रुझान बढ़ने लगा। प्रारम्भ में मानव ने पत्तों व चमड़ों को अपना आवरण बनाया और धीरे–धीरे धागों के साथ बुनाई की कला का विकास कर कपड़ों को सिलने की कला तक पहुँच गया। अजन्ता राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों में चित्रकारों ने जिन वस्त्रों को अंकित किया है उसे देखकर आभाष होता है कि चित्रकारों ने विलक्षण कल्पना शक्ति का उपयोग किया है।

भारतीय कला के लिए डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने लिखा है ''यह कायिक और लाक्षणिक बहुलता और संतुलन साथ–साथ हैं।''

पहाड़ी चित्रकारों ने अपने चित्रों में नारी के बहुत ही आकर्षक स्वरूप को अपने चित्रों में अंकित किया है।

पहाड़ी चित्रकारों ने रीति काव्य में वर्णित नायिका के विभिन्न स्वरूपों को न केवल रंग, रेखाओं, मुख मुद्राओं तथा शारीरिक चेष्टाओं द्वारा आकषर्ण पैदा करने वाली बनाया है बल्कि सुन्दरतम वस्त्रों से सुशोभित कर उसे स्वयं ''रति'' का स्थान दे दिया है। जिसे देखकर रसिक मन द्रवीभूत हो जाए तथा श्रृंगार रस का ह्रदय में संचार हो सके। मानव मन के लिए नारी का मनोरम एवं रमणीय होना परम आवश्यक है।

नारी ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति है। रीतिकाल में नारी मूल प्रेरिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और इसी कारण रतिभाव को जागृत करने वाली चेष्टा, प्रसाधन और श्रृंगार से उसकी महत्ता का विस्तार किया गया। सौन्दर्य चेतना का यही भाव पहाड़ी चित्र शैली में है।

नारी शरीर की सौन्दर्य वृद्धि में सहायक वस्तुओं में सर्वप्रथम वस्त्रों का महत्वपूर्ण योगदान है। वस्त्र न केवल शारीरिक अंगों की रक्षा करते हैं बल्कि लोक मर्यादा तथा शालीनता की रक्षा के साथ–साथ नारी के सहज स्वाभाविक सौन्दर्य में अभिवृद्धि करते हैं।

पहाड़ी चित्रकारों ने नायिकाओं को विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के साथ अंकित कर विभिन्न भावों एवं अभिप्रायों को व्यक्त किया है। नारी के शारीरिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने के लिए भिन्न–भिन्न रंगों, आकारों तथा बनावट के विशेष परिधान को चित्रकारों ने अपने चित्रों में दर्शाया है तथा नारी के शारीरिक गठन के अनुसार ही वस्त्रों का चयन किया है। पहाड़ी चित्रकारों द्वारा चित्रित वस्त्रों को नारी अंगों के सन्दर्भ में तीन प्रकार से विभाजित कर सकते हैं।

निदेशक राज्य संग्रहालय, लखनऊ।

क्रमांक	शारीरिक भाग	वस्त्र
1.	उर्ध्व भाग	चुनरी या ओढ़नी अथवा दुपट्टा व साड़ी
2.	मध्य भाग	चोली, साड़ी
3.	अधो भाग	घाघरा अथवा लहंगा, पट्टेदार सुथन (तंग मोहरी का पायजामा) पेशवाज, साड़ी

पहाड़ी चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त वस्त्रों की बनावट, आकार एवं रंग विधान अपनी विशिष्टता लिए हुए है जो चित्रों की विशेषता कही जा सकती है। भावाभिव्यक्ति के अनुसार ही नारी वस्त्रों का चयन चित्रकारों द्वारा किया गया है जो मानव पर अपना अद्वितीय प्रभाव छोड़ता है।

चुनरी या दुपट्टा अथवा ओढ़नी :

इस वस्त्र को काव्यकारों ने ''चुनरी'' ''ओढ़नी'' अथवा ''दुपट्टा आदि के नामों से अपने काव्य में समुचित स्थान दिया है। चुनरी की लम्बाई दुपट्टे से छोटी होती है। पहाड़ी चित्रकारों ने इस अंतर को अपने चित्रों में स्थान न देकर ''ओढ़नी'' रूप में दुपट्टे का प्रयोग किया है।

पहाड़ी चित्रकारों ने नायिकाओं के वस्त्रों के अंकन में चुनरी या दुपट्टों का अंकन पारदर्शक एवं अपारदर्शक दो प्रकार से किया है।

पारदर्शक ओढ़नी या दुपट्टे का प्रयोग पहाड़ी चित्रकारों ने नारी सौन्दर्य तथा शारीरिक गठन को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही किया है। काँगड़ा, गढ़वाल एवं बसोहली शैली में अधिकांश चित्रों में नायिकाओं को पारदर्शी चुनरी ओढ़े दिखाया गया है। बसोहली चित्रों में यद्यपि चित्रकारों ने पारदर्शक दुपट्टों का ही अत्यधिक प्रयोग किया है। काँगड़ा, गढ़वाल एवं बसोहली चित्रों में पारदर्शक दुपट्टों को सिर पर ओढ़े हुए तथा घाघरे के चारों ओर एक विशेष प्रकार से फैली व ऊपर चुन्नटों को इकट्ठा खोंसे हुए दर्शाया है। जिससे किसी किसी चित्र में यह ओढ़नी, साड़ी जैसा आभास प्रस्तुत करती है।

दुपट्टों का गहरा लाल, पीला, सफेद, बैंगनी, नीला, गुलाबी, कहीं कहीं सुनहरा रंग भी देखने को मिलता है। दुपट्टों के किनारे चित्रकारों ने सुनहरे रंग से सजाए हैं जो नायिकाओं के रूप विन्यास में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। अनेक स्थानों पर पहाड़ी चित्रकारों ने चुनरी या ओढ़नी में बेलवेट व छींट आदि बनाकर उसे रमणीय तथा मोहक रूप प्रदान किया है।

नायिकाओं के शारीरिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने में चित्रकारों का विशेष अनुराग रहा है। दुपट्टे को कलाकार ने सिर से नितम्बों तक या घुटनों के नीचे तक भी चित्रों में दिखाया है, जो पारदर्शक होने के कारण नारी शारीरिक गठन का प्रदर्शन करता है।

साड़ी :

भारतीय साहित्य में साड़ी का वर्णन प्राचीन काल से प्राप्त होता। रीतिकाल के कवियों ने साड़ी का वर्णन बहुतायत से पूर्ण महत्ता पूर्ण ढंग से किया है। साड़ी को विभिन्न आकर्षक रंगों में वर्णित किया है। पहाड़ी चित्रकारों ने साड़ी का अंकन लगभग कम ही किया है किन्तु पूर्णतः उपेक्षा भी नही की।

बसोहली शैली में चित्रित स्वर्गिक कथा शुक्र–रम्भा संवाद चित्रावली में साड़ी का प्रयोग दर्शनीय है। इस चित्र में साड़ी के एक छोर से रम्भा अपने शरीर के अधोभाग को ढ़के हुए तथा दूसरा छोर एक हाथ के ऊपर चित्रित किया गया है। रम्भा भावपूर्ण मुद्रा में शुक्र के सामने नृत्य कर रही है। चित्रकार ने रम्भा के शारीरिक सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के लिए साड़ी का चित्रण केवल अधोभाग तक ही सीमित रखा है। साड़ी की किनारी में सुनहरे रंग का प्रयोग किया है जबकि साड़ी सफेद रंग से दशाई गई है। "झीने वस्त्रों की ओट में पारदर्शक अंगों को दिखाने का यद्यपि सभी पहाड़ी उपशैलियों के चित्रकारों ने प्रयत्न किया है, किन्तु बसोहली के चित्रकारों का इस ओर विशेष ध्यान रहा है। "बसोहली के चित्रकार ने कहीं–कहीं साड़ी से केवल नायिका के अधोभाग को ही ढका है। पहाड़ी चित्रकारों ने नारी के शारीरिक गठन एवं सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के लिए व अनेक स्थानों में अंगों को छिपाने के लिए साड़ी का अंकन कुशलता के साथ किया है। यही कारण है कि इन चित्रों को देखने मात्र से जो सुखानुभूति होती है वह मानव को आनंदित कर रसपान कराने में पूर्ण समर्थ है।

मध्य भाग

चोली :

चोली का कवियों ने अपने काव्य में अंगिया अथवा कंचुकी आदि नामों से वर्णन किया है। पहाड़ी चित्रकारों ने नारी श्रृंगार एवं सज्जा में जिन वस्त्रों को महत्व दिया है उनमें "चोली" या कंचुकी का अपना विशिष्ट महत्व है। चित्रकारों ने कचुंकी को भिन्न–भिन्न रंगों द्वारा अंकित कर उसे अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। पहाड़ी चित्रकारों ने लगभग सभी चित्रों में "चोली" का चित्रण किया है परन्तु कहीं–कहीं बिना चोली के भी नायिकाओं को चित्रित किया है। किन्तु कहीं भी उसमें अश्लीलता का भाव पैदा नहीं होता है। बसोहली चित्रों में चोली को छोटा और ऊपर की ओर चढ़ी हुई चित्रित किया है जो केवल उरोंजों को ही ढकती हैं। इस प्रकार चित्रकार ने नारी के स्वाभाविक गठन एवं सौन्दर्य के महत्व को प्रदर्शित किया है।

पहाड़ी शैली में प्रायः चोली कोहनी तक लम्बी चित्रित है। सम्पूर्ण पहाड़ी चित्रकला में नायिकाओं को पीला, नीला, लाल, गहरा लाल, बैंगनी, कत्थई, सफेद, हरा, और गहरा पीला प्रायः सभी रंगों की चोलियों में चित्रित किया है। इन चोलियों पर विभिन्न प्रकार के (डिजाइन) आलेखन छींट तथा सुनहरे रंग की सजावट स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार पहाड़ी चित्रकारों ने चोली या कुंचकी का चित्रण नारी के शारीरिक सौन्दर्य एवं गठन के अनुसार किया है जो उसके शारीरिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने में पूरी तरह सफल रहा है।

घाघरा या लंहगा :

नारी के शरीर के अधोभाग में पहने जाने वाले वस्त्र का अपना विशिष्ट स्थान है। नारी शरीर के अधोभाग को ढकने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। यह घेरदार कमर में बाँधा जाता है कभी यह पैरों तक लम्बा और कभी पैरों की पिंडलियों तक लम्बा होता है। पहाड़ी चित्रकारों ने अपनी विभिन्न शैलियों में इसे बहुत ही कलात्मक, आकर्षक, मनोहारी, रमणीय एवं लुभावने आकार प्रकारों में अंकित किया है जिसके द्वारा नायिकाओं के शारीरिक सौन्दर्य में अद्वितीय वृद्धि हुई।

लंहगा मुख्य रूप से अनेक रंगों में चित्रित है। काँगडा, बसौहली, गढ़वाल आदि शैलियों में चित्रकारों ने लंहगों में छींट तथा आलेखनों को भी स्थान दिया है, लंहगों के किनारे विशेष रूप से सुनहरे रंग से बनाये हैं। कहीं कहीं घाघरों में आड़ी पट्टियां भी अंकित की गई हैं।

पहाड़ी चित्रकारों ने घाघरों को दो प्रकार से अंकित किया है–

1. पारदर्शक घाघरे
2. अपारदर्शक घाघरे

पारदर्शक घाघरों या अधोवस्त्र को मुख्यतः हम बसौहली चित्रों में पाते हैं। इस पारदर्शक घाघरे के अंदर एक पायजामा जो कि नायिका के पैरों में बिल्कुल चिपका हुआ दिखाया है।

बसौहली चित्रों में अपारदर्शक घाघरों का चित्रण कम हुआ है। साधारण तौर पर काँगडा, एवं गढ़वाल चित्रों में अपारदर्शक घाघरों का चित्रण देखने को मिलता है। पहाड़ी चित्रकारों ने नायिकाओं की विभिन्न भाव–भंगिमाओं के आधार पर घाघरों के रंगों का चयन किया है। प्रायः लाल, हरा, सफेद, गुलाबी, गहरा पीला, नीला, जामुनी, तथा बैंगनी रंग का प्रयोग देखने को मिलता है। कहीं कहीं घाघरों में सुनहरे रंग से पट्टे भी सुन्दर ढंग से बनाये हैं। पहाड़ी चित्रकारों ने घाघरों में हल्के व गहरे रंगों का प्रयोग कर एक आभा दर्शाने का प्रयास किया है।

अधोभाग –

पायजामा अथवा सुथन :

पहाड़ी नायिकाओं के विभिन्न रूपों के अन्तर्गत अधोभाग के वस्त्रों में घाघरे के बाद जो वस्त्र सबसे अधिक चित्रित किया है वह तंग छोटी मोहरी का ''पायजामा'' या ''सुथन'' है। अधोभाग की बनावट के अनुरूप ही शरीर से बिल्कुल चिपका हुआ तंग या छोटी मोहरी का पायजामा सबसे अधिक बसौहली शैली में चित्रकारों ने चित्रित किया है। इन पायजामों में चौड़ी रेखाओं द्वारा लम्बे पट्टों को बनाया है। बसौहली के ''रागमाला'' चित्रों में पट्टेदार पायजामा का चित्रण अपनी विशिष्टता लिए हुए है।

बसौहली शैली के एक चित्र में राधा के अधोभाग में लाल रंग के पायजामों पर काले रंग की चौड़ी रेखाओं को चित्रित किया गया है, जिसके ऊपर सफेद रंग का पारदर्शक बारीक रेखाओं

से युक्त ''पेशवाज'' जिसकी किनारी सुनहरे रंग से चित्रित की गई है, को पहना हुआ चित्रित किया है।

पेशवाज या मुसलिन :

पहाड़ी चित्रकला का प्रभाव सर्वप्रथम नारी वस्त्रों से ही स्पष्ट रूप से सामने आता है। ''पेशवाज'' या ''मुसलिन'' यह वस्त्र मुगल संस्कृति से ही पहाड़ी चित्रों तक पहुँचा। यह एक ढीला–ढाला घेरदार चोंगा जैसा वस्त्र है जिसमें लम्बी आस्तीन होती है। पहाड़ी चित्रकारों ने नारी या नायिकाओं के वस्त्रों में पेशवाज को अत्यंत ही मनोहारी तथा लुभावने ढंग से चित्रित किया है। जहाँ चुस्त धारीदार पायजामें का चित्रण चित्रकारों ने नायिकाओं के रूपों में किया है वहीं उसके ऊपर ''पेशवाज'' या ''मुसलिन'' को पहनाया है।

पेशवाज को बसौली के चित्रकारों ने पारदर्शक अधोवस्त्र के रूप में चित्रित किया है जिसमें से चुस्त धारीदार पायजामा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहा है। वस्त्रों की यह पारदर्शिता मुगल शैली से पहाड़ी शैली में आई है।

पेश्वाज या मुसलिन को भी पहाड़ी चित्रकारों ने दो प्रकार से अंकित किया है।

1. पारदर्शी

2. अपारदर्शी

पारदर्शक पेशवाज के अन्दर से झाँकती नायिका की सुथल उसके अधो भाग के सौन्दर्य का दर्शन कराती है और चिकारों की नारी के शारीरिक सौन्दर्य के प्रति गहरी रुचि का परिचय देती है।

इसके अलावा सम्पूर्ण पहाड़ी चित्रकला में कहीं–कहीं से सादा एक रंग में ही सुनहरी किनारी के साथ चित्रित किया है। तो कहीं इसमें बेल बूटे भी अंकित किये हैं। इन पेशवाजों को पहाड़ी चित्रों में अनेक रंगों में जैसे हल्का गुलाबी, हल्का हरा, सफेद, नीला, गहरा नीला, कत्थई प्रायः सभी रंगों में अंकित किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. जगदीश गुप्त : भारतीय कला के पदचिन्ह (1961)
2. ब्राउन पर्सी – इण्डियन पेन्टिग (1960)
3. रन्धावा, एम.एस.– बसोली पेंन्टिग (1959)
4. हिमप्रस्थ, मार्च 1966 – पहाड़ी चित्रकला– एक परिचय, उमा पाराशर, टेक्नीकल असिस्टेन्ट, राजकीय संग्रहालय, झाँसी।
5. धर्मयुग, 25 जून, 1967 – इतिहास और चित्रकला की घाटी – बसोहली

▢▢

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

भागवत पुराण के तीन सचित्र पन्ने
भारत कला भवन के संदर्भ में

डा. राजेन्द्र प्रसाद सिंह

प्रस्तुत विषय भारत कला भवन में संग्रहित भागवत पुराण के कुछ सचित्र पृष्ठों पर आधारित है। भारत कला भवन में भागवत पुराण के दशम् स्कन्ध के कथाओं के कुछ कृष्ण लीला से सम्बन्धित लेख युक्त चित्र संग्रहित हैं। इसमें एक पृष्ठ पर चित्र बना है तथा उसके पहले वाले पृष्ठ पर लेख है। इस पोथी के लेख देवनागरी लिपि में हैं तथा इनका काल निर्धारण 17वीं शती किया गया है। इस निबन्ध में मात्र तीन चित्रों को लिया गया है।

भारत कला भवन में मालवा चित्रों के सुन्दर संग्रह हैं जिनमें रामायण, रागमाला व भागवत के चित्र मुख्य हैं। यहाँ पर मुख्य रूप से भागवत के चित्रों का उल्लेख किया गया है। मालवा पहले से ही कला के क्षेत्र में प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात रहा है। कोटा व बूंदी (राजस्थान) की सीमा से सटे होने के कारण यहाँ की कलाओं पर राजस्थानी शैली का भी प्रभाव पड़ा है। मालवा क्षेत्र ने भारतीय ऐतिहासिक परिपेक्ष में अनेक उतार–चढ़ाव का सामना करते हुए अपने अस्तित्व को अक्षुण रखा हुआ है। परिणाम स्वरूप यहाँ की कलाओं में विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

प्रस्तुत विषय के परिपेक्ष्य में पूतना–वध, कृष्ण द्वारा गोबर्धन धारण एवं वसुदेव के शिशु–परिवर्तन से सम्बन्धित तीन चित्रों का चयन किया गया है। यहाँ पूतना वध कथा व कृष्ण द्वारा गोबर्धन पर्वत धारण करने की कथा के चित्रों के साथ उसी विषय पर चित्रित अन्य शैलियों के तीन–तीन चित्रों को भी लिया गया है। अन्य शैली के चित्र यहाँ मालवा अन्यों से कहाँ भिन्न है उस पर प्रकाश डालती है। शिशु–परिवर्तन का चित्र वहीं पर इस शैली के नाटकीय विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। मालवा शैली के वर्णित चित्र पूर्णरूपेण लोक शैली के हैं तथा इन्हें देखने से यह स्पष्ट होता है कि ये अभिजात्य लोक शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन चित्रों का निर्माण एक योजनाबद्ध तरीके से किया गया है। यहाँ चित्रकारों ने, पात्रों के चेहरों पर विशेष ध्यान नहीं दिया हैं। यहाँ के चित्र द्विआयामी हैं किन्तु उनमें गहराई का अभाव है। इसमें कथा को सीधे सामान्य तरीके से प्रदर्शित किया गया है। यहां मुख्य पात्रों को बड़े आकार व अन्य पात्रों को छोटे–छोटे गुड़िया जैसे चित्रित किया गया है। यहां मालवा शैली के चित्रकारों ने इन चित्रों में रंगो के अनूठे प्रयोग किए हैं, उन्होंने विभिन्न प्रकार के रंगों का न मात्र उपयोग किया है अपितु लगता है उनसे खेल रहे है। इनमें अलंकरणों का भी व्यापक उपयोग हुआ है। ये चित्र वास्तविकता से पूरे व लोक शैली से प्रभावित हैं। चित्रकार यहाँ मंजे हुए नहीं हैं।

सहायक संग्रहालयाध्यक्ष, भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

यहाँ हम सर्वप्रथम पूतना वध के कथा पर आधारित चित्र का वर्णन करेंगे जिसमें कृष्ण को मारने हेतु कंस द्वारा राक्षसी रूपी पूतना को आदेश दिया जाता है। कंस के आदेश के बाद पूतना सुन्दरी का रूप धारण कर बालक कृष्ण के पास जाती है व उसे उठाकर स्तनपान कराती है। वह यह क्रिया कृष्ण को मारने हेतु करती है किन्तु ईश्वरीय प्रभाव से स्वयं को मरने के बाद उसका चेहरा पुनः राक्षसी की तरह हो जाता है। इसी कथा का अंकन प्रस्तुत चित्र में किया गया है।

दूसरी कथा कृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण की है जिसमें इन्द्र व कृष्ण के बीच का द्वन्द्व दिखाया गया है। पहले लोग इन्द्र की पूजा करते थे व लोगों में उनमें अटूट आस्था थी। कृष्ण ने लोगों से कहा कि इन्द्र की पूजा बंद करके आप पहाड़ की पूजा करें जिससे आपको व आपके पशुओं को आहार मिलता है व आपका पालन–पोषण होता है। कृष्ण की बात मानकर लोग इन्द्र की पूजा छोड़कर पहाड़ की पूजा करने लगे। इन्द्र इस बात से क्रुद्ध होकर बारिश कराने का आदेश देते हैं जिससे लोग तबाह हो जाएं। उनके आदेश के बाद भयंकर बारिश होती है व लोग जान–माल की रक्षा हेतु कृष्ण के पास जाते हैं। कृष्ण ने लोगों को बारिश से बचाने के लिए गोवर्धन पर्वत को उठा लिया जिससे मानव व पशु सभी उसके नीचे आकर जान बचा सके। इस घटना से प्रभावित होकर इन्द्र कृष्ण के पास आए व अपने कृत्यों के लिए क्षमा मांगा। यही नहीं इन्द्र ने प्रभावित होकर वहाँ कृष्ण को 'गोविन्द' नाम दिया।

तीसरी कथा कंस के भय से कृष्ण की जान बचाने की है। कृष्ण को लेकर वसुदेव रात्रि में यमुना पार कर नन्दालय यशोदा के पास पहुँचते हैं तथा वहाँ उनकी पुत्री को ले आते हैं तथा कृष्ण को वहाँ छोड़ आते हैं। यमुना पार करते समय यमुना का पानी बढ़ा हुआ था, घनघोर वृष्टि हो रही थी, फिर भी तमाम कठिनाइयों का सामना करते हुए वसुदेव ने कृष्ण को यशोदा के पास पहुँचा कर कंस के प्रकोप से उनकी रक्षा किया। इस कथा का अंकन प्रस्तुत चित्र में चित्रकारी ने बहुत ही अच्छे ढंग से किया है।

यहाँ प्रस्तुत चित्रों में जिन कथाओं का अंकन किया गया है, चित्र स्वयं उनका बयान कर रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है। यह मालवा शैली की अपनी विशेषता है।

पूतनावध 17वीं शती मालवा –

इस सम्पूर्ण चित्र को दो भागों में विभक्त किया गया है। इसमें ऊपर के भाग में कंस पूतना को कृष्ण की हत्या करने का आदेश दे रहा है। इसी हिस्से को तीन अनुभागों में विभक्त किया गया है, प्रथम भाग में कृष्ण को मारने का आदेश, द्वितीय भाग में पूतना को जाते हुए तथा तृतीय भाग बालक कृष्ण को पूतना को उठाते हुए दिखाया गया है। इस प्रकार ऊपर के भाग में अंकित दृश्यों को छोटे भाग में प्रदर्शित किया गया है।

शेष नीचे के भाग में पूतना को विशालकाय मृतक प्रदर्शित किया गया है। छोटे से कृष्ण यहाँ पूतना का स्तनपान कर रहे हैं। वध का दृश्य सम्पूर्ण दृश्य का दो तिहाई भाग है। यहाँ पूतना की

जीभ बाहर निकली हुयी है तथा उसके साथ ही आँखे पूर्णरूपेण खुली हुई हैं। उसका एक हाथ माथे के नीचे है। यहाँ कृष्ण पूतना की ओर देख रहे हैं। साथ में अगल–बगल की मानवाकृतियां पूतना के मरने के पश्चात् आश्चर्यचकित होकर देख रही हैं।

यह चित्र लोक कला से प्रभावित हैं, तथा इसमें उच्चकोटि की कलात्मकता का अभाव है। यहाँ प्रदर्शित पेड़ अलंकृत है तथा एक भी पत्ता लाइन के बाहर नहीं है। पक्षियों का अंकन यहाँ लोक शैली में किया गया है। चित्र वास्तविकता से परे है तथा अन्य आकृतियाँ छोटी–छोटी गुड़िया जैसी हैं। इस चित्र में चित्रकार ने कई रंगों का प्रयोग किया है। यह सम्पूर्ण चित्र ऐसा बना है कि अपनी कथा स्वयं कहता प्रतीत होता है। यहाँ हम मालवा के अतिरिक्त, मेवाड़ पहाड़ी चित्रों का वर्णन करेंगे जिससे अन्य शैलियां व मालवा के अन्तर को स्पष्ट देखा जा सकता है।

603, पूतनावध मेवाड़, 17वीं शती–

इस में बेड़े बल बना हुआ है तथा यह मालवा के चित्र से छोटा है। इसमें कथा का विवरण सबसे ऊपर लिखा हुआ है। यह चित्र चलचित्र प्रभाव प्रस्तुत कर रहा है। इसमें ऋषि शुकदेव परीक्षित को कथा सुना रहे हैं वहीं पीछे पूतना वध दिखाया गया है। यहाँ फ्लैश बैक टेकनीक का उपयोग चित्रकार ने किया है। यहाँ पर पूतना को सुन्दरी के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें पहाड़, भवन व पानी आदि का भी अंकन किया गया है।

356, पूतनावध पहाड़ी 1810–20 ई.–

इस चित्र में भवन का भीतरी हिस्सा दिखाया गया है। यहाँ पूतना मरी पड़ी हुई है तथा उसकी दाँत व जीभ निकली हुई है। पूतना की एक ऑख बंद है व दूसरी आँख खुली हुई है। कृष्ण पूतना का स्तनपान कर रहे हैं। इसमें स्त्रियों का चेहरा पहाड़ी सरकार की तरह दाढ़ी युक्त पगड़ी धारण किये प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र में वहाँ उपस्थित सभी लोग घटना को आश्चर्यचकित होकर देख रहें हैं। यहाँ लोग घटना में इतना लीन हैं कि बगल रसोई में चूल्हे पर दूध गर्म हो कर गिर रहा है किन्तु उस पर किसी का ध्यान नहीं है।

कृष्ण गोबर्धन धारण करते मालवा 1700 ई.

यह चित्र बेडे बल बना है। यह चित्र दो भागों में विभक्त है। इसमें दाहिने ओर कृष्ण द्वारा पर्वत उठाने का दृश्य अंकित है। इसमें कृष्ण बाएं हाथ की एक अंगुली से पर्वत उठा रहे हैं। अगल–बगल के लोग इस घटना से चमत्कृत हैं। ऊपर के भाग में बादल तथा वर्षा का दृश्य है। पर्वत के ऊपर वृक्ष व पत्थर अलंकृत प्रकार के हैं। यहाँ इस चित्र में सफेद, गेरू, हरा, चाकलेट आदि रंगों का उपयोग किया गया है। कृष्ण का शरीर नीले रंग में, उनका वस्त्र पीला तथा सिर पर मोरपंखयुक्त मुकुट हैं। इसमें नीचे गाय, बछड़ा व एक खाली यान है जिस पर पात्र रखे हुए हैं। चित्र में बाएं ओर कथा का अंकन है। जिसमें एक ओर ऊपर इन्द्र का ऐरावत है तथा स्वयं इन्द्र सिंहासन पर बैठकर मेघदूतों को वर्षा करने का आदेश देते हैं। दूसरे दृश्य में वर्षा हो रही है एवं

लोग भींग रहे हैं। तीसरे दृश्य में लोग कृष्ण के पास आकर उनसे वर्षा के प्रकोप से बचाने का निवेदन कर रहे हैं। इसमें कृष्ण के साथ बलराम तथा गोप आदि है। अन्त में कृष्ण को जाते हुए दिखाया गया है। यहाँ पानी से भयभीत गाय को भी चित्रित किया गया है।

इस चित्र में अलग–अलग पृष्ठभूमि का उपयोग किया गया है। जिसमें नीला, हरा, लाल, चाकलेटी रंगों का प्रयोग हुआ है। इस चित्र में अन्य आकृति छोटी–छोटी बनी है जो गुड़ियों की तरह लगती है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकार ने रंगों से खेला है। इस प्रकार मालवा में गोवर्धन पर्वत धारण करते कृष्ण को जिस प्रकार चित्रकार ने चित्रित किया है उसकी तुलना में हम अन्य शैलियों के चित्रों पर विचार करेंगे।

6885, गोवर्धनधारी मेवाड़ 17वीं शती

यह चित्र दरबारी है तथा इसे प्रशिक्षित चित्रकारों ने बनाया है। यह बेड़े बल है। इसमें ऊपर ऐरावत पर बैठे इन्द्र को मेघदूतों को आदेश देते हुए प्रदर्शित किया गया है। चित्र में बिजली को चमकते हुए, दिखाया गया है। चित्र के दूसरे हिस्से में अलंकृत पहाड़ है, यहाँ पर वृक्षों को कुछ वास्तविक बनाने का प्रयास किया गया है। पहाड़ के ऊपर साधुओं को योग करते दिखाया गया है। यहाँ वर्षा के जल को सफेद बूंदों के रूप में अंकित किया गया है।

इसमें नीचे कृष्ण को दाहिने हाथ से पर्वत उठाये कथक नृत्य की वेश–भूषा में प्रदर्शित किया गया है। उनका चेहरा नीला, सिर पर मोट पेट व युक्त मुकुट, पीला पायजामा के साथ चित्रित हैं। उनके दायें बायें गोप, गोपियॉ बालक हैं। यहाँ नन्द की इस्लामी वेश–भूषा में तथा अन्य आकृतियों के भी जामा, पगड़ी, दाढ़ी आदि मुगल प्रभाव में हैं। शेष बची आकृतियों को राजस्थानी वेश–भूषा में दिखाया गया है।

326, गोवर्धनधारी पहाड़ी 19वीं शती गढ़वाक–

यहाँ कृष्ण स्वास्तिक मुद्रा में हैं। कृष्ण दाहिने हाथ से गोबर्धन पहाड़ लिए हुए है। यहाँ पहाड़ को बिल्कुल सादा बनाया गया है एवं उस पर वर्षा के प्रतीक के रूप में मोर का चित्रण किया गया है। पहाड़ के ऊपर काले बादल हैं। ऊपर दाहिने ओर इन्द्र ऐरावत पर सवार हैं। यहाँ कृष्ण के अगल–बगल के मात्र पहाड़ी वेश–भूषा में हैं। इस चित्र में अन्य चित्रों की तरह लोग आश्चर्यचकित नहीं है।

9422, शिशु परिवर्तन मालवा 17वीं शती–

यह चित्र तीन भागों में विभक्त है इसमें दाहिने ओर नन्दालय, बाएं मथुरा व मध्य भाग में यमुना नदी का दृश्य अंकित है। यह चित्र अत्यन्त ही नाटकीय पद्धति का है जिसका उपयोग आज के मंच कला हेतु उपयोग किया जा सकता है।

प्रथम भाग में एक ओर नन्दालय के दृश्य अंकित है तथा इसके प्रथम दृश्य में ग्वाला के घर

में दो बालक सो रहे है। इनके कपड़े खूंटी पर लटके हुए हैं। द्वितीय दृश्य में वसुदेव यशोदा के गोद से बच्चा लेकर उसके स्थान पर कृष्ण को रख रहे हैं। यहाँ जिस बच्चे को यशोदा के गोंद से हटाया जा रहा है वह मां से अलग होने पर छटपटाता हुआ दिखाई दे रहा है।

चित्र के मध्य भाग में नाटक के स्टेज की तरह अंकन है, ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दा उठ रहा है। इसमें पृष्ठ भाग में बारिश हो रही है। यहाँ कृष्ण को सूप में रखकर ले जाया जा रहा है तथा शेष नाग नदी के ऊपर निकल कर अपने फण से शिशु की रक्षा कर रहे हैं। यहाँ कृष्ण के उपस्थित होने का अवसर पाकर यमुना नीचे उठकर कृष्ण का पैर छू रही है। एक तरफ वसुदेव को जाते समय काली दाढ़ी में प्रदर्शित किया गया है वहीं लौटते समय उनकी दाढ़ी भूरे रंग की हो गयी हैं। सम्भवत् अब आगे क्या होगा की चिन्ता में उनकी दाढ़ी का रंग बदल गया है।

चित्र के तीसरे भाग में मथुरा का दृश्य अंकित है। इसमें प्रथम भाग में कंस सोए हुए हैं उनका सिर चिन्ता से फटा जा रहा है व परिचारिकाएं उनके सिर व पैर को दबा रही हैं। द्वितीय भाग में वसुदेव कन्या को देवकी की गोद में छोड़ कर जा रहे हैं। तीसरे भाग में दो रक्षक सो रहे है निश्चिन्त होकर। संभवतः ईश्वरीय माया के चलते इन्हें नींद आ गई है।

प्रस्तुत चित्र में एक ही स्टेज में यहाँ तीन घटनाएं, तीन स्थान व तीन कालों का अद्भुत चित्रण किया गया है। यहाँ पर दिल्ली के स्कूल आफ डांस ऐण्ड ड्रामा के प्रथम अध्यक्ष अल्का जी ने इस चित्र से प्रभावित होकर इसे आधुनिक नाट्य मंच कला में उपयोग करने की बात कही है। आधुनिक नाट्य मंच कला में उपयोग करने की बात कही है। आधुनिक नाट्य मंच कला में इस चित्र से प्रेरणा लेकर नए प्रयोग किए जा सकते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ –

1. आनन्द कृष्ण – मालवा पेण्टिंग, भारत कला भवन, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1963।
2. जे.एल. शास्त्री (सम्पादित) – एन्सिएण्ट इण्डियन ट्रेडिशन एण्ड माइथोलाजी वाल्यूम 10, दिल्ली, 1978।
3. डब्ल्यू. जी. आर्चर – सेन्ट्रल इण्डियन पेण्टिंग, लन्दन।
4. कार्ल खण्डेलवाल – पहाड़ी पेण्टिंग्स, मुम्बई, 1958।
5. प्रियोतोष बनर्जी – दि ब्लू गॉड, ललित कला एकेडमी, बम्बई, 1981।

खण्ड-दो

Iconographic Perception of Krishna's Image

Dr. Daljeet

A couple of days ago, in reply to our invitation for participating in this seminar, Dr. Harsh Dehejia, Professor of religion, Carletan University, Ottava, and an eminent art scholar and writer of a number of books, especially on Krishna theme, gave me a return call to convey his inability to attend it. In the course of our chitchat, he asked me if I had visited the Puri shrine. When I said 'yes', he put to me another question, 'Did the Puri image of Krishna inspire in me the emotion of love, which is the principal 'bhava' of him?' I could say neither 'yes' nor 'no'. I was not sure whether it was the 'bhava' of love, devotion or what that had captivated my mind the moment I looked at the Divine image.

This simple chitchat involved a profound enquiry into the nature of the imagery of Krishna, perhaps corresponding to his very being who has always been to me an entity as also a non-entity, an occurrence of chronology as also just what the human intellect conceived, a reality, unimaginably strange, and a myth, too real to be mythical. The intellect finds it difficult to believe that what this single name is said to have once possessed could ever abound in a human born form, but the believing mind and the creative endeavour feel that whatever has been said of him is too little to know him, to know his dimensions, depths and expanse. The devotees, hence, have been weaving around him ever-fresh myths, poets, ever-new songs, and painters, his ever quaint and curious versions, discovering him in his frailties as well as strength but found him beyond both, or rather beyond everything and beyond time. Orissa saw this width of his being. when the entire land contemplated him as one of the incarnations of Vishnu. Orissa celebrated him as Jagannatha, and saw in him the seed of all Vaishnava incarnations.

The growth of Krishna-cult

Was Krishna, as Dr. Dehejia felt, only the god of love? His early references suggest differently. The Vedas talk of one krishna Harita, a teacher of *'Yoga'* and metaphysics, and sometimes of Devaki Krishna, a great philosopher. In the

पूर्व कीपर चित्रकला, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

Mahabharata appears his more evolved personality, but again as a great warrior, strategist, diplomat, and finally, in his *Vishwa-rupa*, manifesting the cosmos in his form. He was seen as incarnating Vishnu, the supreme Lord of all gods and beings, with a rank and distinction above them all. In the course of time, this Vaishnava cult of God as king of Lord, had to face the challenge from the fast growing radicalism of Buddhism, Jainism, Christianity and subsequently from Islam that perceived in a humble human born prophet the ultimate divinity effecting transcendence of whoever was devoted to his teachings. This forced Vaishnava scriptures, though they yet continued with their incarnation theory, to minimize or rather give up, in their depiction of Krishna, has king-like 'above common man status'. They devoted greater space, instead, in delineating his exploits against evil forces, all doing in human form. Most of these scriptures deal with the later part of his life, which is the prime thrust of the *Mahabharata*, just cursorily, obviously to avoid over emphasis on the depiction of his superhuman form.

By the eleventh-twelfth century, this thesis of God as king was seen as alienating this God of few from Indian masses and then emerged, to the rescue of this cult, the Krishna as we know him now, an humble born and as humbly clad village stripling herding his cows, adorning himself with peacock feathers, blowing a bamboo pipe and flirting in the streets of Vrindavana with a country born lass and at times also with others. He reveals now and then in his acts his divinity and rises in the estimation of the people of Vrindavana but the ties between the two are always those of love and not of devotion. He soars high but never beyond the muddy lanes of Vrindavana or the sandy banks of Yamuna. This Krishna did not emerge out of rhetoricians' discourses, or from metaphysicians' pen, but from the throats of poets, Jayadeva, Vidyapati, Chandidasa, Suradas and Panchasakhas of Utkala, namely, Balarama, Jagannath, Yashovanta, Anant and Achutananda. The Vaishnanva saints, Nimbarka, Vallabhacharya and Chaitanya, did the rest. Vallabhacharya, and later his son Vitthal, in their Pushtimarg, not only diversified his seats to different parts of the subcontinent but also dismissed the cult of ritual worship, which only the Brahmins could accomplish. He introduced the cult of *'Sewa'*, or 'service', which anyone irrespective of his varna, caste, gender or social status could render. This Krishna made his way into the hearts of commoners, peasants, households, artisans, and litterateurs

and from amongst them emerged a new class of his devotees. They saw in this lad of Vrandavana someone who belonged to them. And, around this so-evolved form of Krishna developed his iconographic perception.

Krishna's early iconography and his three rupas

His iconographic manifestations seem to have begun around the second century B.C., But the so far reported actual images are datable to the first century A.D. These early icons, stone-images and terracotta, recovered from Mathura, Gaya and a few places in Rajasthan, portray Krishna along with his brother Balarama and sister Ekananga. Ekananga was Yashoda's daughter. Representing the most powerful Vrashni personages, and with textual allusions of Vrashnis celebrating their heroes, these early sculptures might be contemplated also as the votive idols from the family shrines of Vrashnis. In these manifestations Krishna has been uniformly modeled with four arms, three carrying attributes of Vishnu and the fourth, always imparting *Abhaya*. In this early iconography his distinction from Vishnu is established mainly by the presence of Balarama who, along with Ekananga, appears to be the essential component of Krishna's pre-Puranic iconography.

Early Indian classical texts conceive three basic iconographic forms or *rupas* of Krishna. They are his *Aradhya-rupa*, *Vishwa-rupa*, *Saumya*, or *Lalita-rupa*, a form with moon-like placid beauty. In his *Aradhya-rupa*, he is in the aforementioned four-armed form. The images recovered from Mathura, Gaya and Rajasthan are in *Aradhya-rupa*. Krishna's *Vishwa-rupa* is largely a scriptural form rarely occurring in visual arts. Whichever *Vishwa-rupa* images have so far come to light, have been so conceived that it is difficult to say which of them belongs to Vishnu and which to Krishna.

The natural human form with just two normal arms defines the Saumya or *Lalit-rupa* of Krishna. From around the second-third century onwards, the Puranas begin weaving around him tales of his exploits accomplished in his human form. It was also the golden period of Indian art under the Gupta rulers. Obviously, his human form, as devised *Puranas*, and which the scriptures defined as his *Saumya-rupa*, dominated since onwards the sculptural art, although time and again there also appeared his fourarmed form loaded with *Narayani* attributes. Most of the

sculptures of this period depict his exploits against evil forces, a child sucking dead a ferocious demoness, knocking to pieces the demon Shakata, or dancing over the hoods of deadly viper kaliya and so on, a kind of divine drama full of fiction and stunning action. It was actually the transitional phase of Krishna's iconography seeking to do away its divine aspect and replace it with the humane. Now his all three *rupas, Aradhya, Vishwa* and *Saumya*, blended to create an altogether different *Lila-rupa*. The traits of Vaishnava incarnation cult yet lingered and now and then the four-armed icons too appeared, but the iconography had made a decisive shift from his unborn to his human born form and the mysticism had replaced his erstwhile divinity. The *Lila Krishna* as much, or perhaps more than ever, enshrined Vaishnava shrines, thought the iconographic norms did not prescribe any specific image-kind for the sanctum.

The Lila-rupa

Krishna's icons in *Lila-rupa* might be classed under three groups, his sanctum images, his images engaged in eliminating evil or misgivings, and lastly, the images of his sensuous pursuits and love games. Practically, these three iconic forms of Krishna correspond to his earlier *Aradhya, Vishwa* and *Saumya Rupas* with the difference that all three aspects reveal only in his normal human form and are represented as various dimensions of his *Lila*. The *Lila-rupa* is now the prime thrust of Krishna cult and not only the three prior Rupas merge into it but also the later ones emerge out of it. In every manifest form he is the *Lila-Krishna* or *Lila-Purusha*.

Any of his *Lila-rupas*, crystallized and fixed into an iconic form, may define what might be termed as his sanctum image. Krishna lifts mount Govardhana on his left hand little finger for protecting Vrindavana, its people, animals, nature and so on from Indra's ire. Lifting Govardhana is the climax of a long chain of events, such as Krishna persuading people of Brij to give up the annual worship of Indra and to worship instead their cattle, their real benefactor, Indra's retaliation against the people of Brij and flooding it in entirety with the non-stop torrential rains, and so on. The climax part of the event, which represents Krishna holding Govardhan over his left hand finger, when crystallized into an icon, comprises one of his most popular sanctum image types known as Govardhana-dhari krishna. This *Govardhana-dhari* krishna, though Govardhana itself is only symbolically repre-

sented, is the presiding image of Vallabha's *Pushtimarga* and enshrines its principal seat at Nathdwara and is known as Shrinathji. This seat of Shrinathji developed around it not only an enormous art activity but also its characteristic style and symbolism.

Most of the seats, dedicated to Krishna, except the Jagannath temple at Puri, enshrine Krishna in one of his *Lila-rupas*. The icons in the Jagannath temple at Puri are an exception. The Puri icons, a product of some erstwhile unknown folk tradition of Krishna worship cult, are reminiscent of the ancient Vrashni Trio Comprising of Vasudeva Krishna, his brother Balarama and their sister Ekananga and represent the initial *Aradhya-rupa* of Krishna image. Here Subhadra, the real sister of Krishna, has replaced Ekananga. In the images, enshrining other Vaishnava seats, Krishna is more often represented in three *rupas, Gopalak* Krishna, *Bal* Krishna and Krishna with Radha, or *Radha-Krishna*. In his *Gopalak rupa*, the protector and the keeper of cows, he is Gopal, in his *Bal-lila-rupa*, he is Bal Gopal and in his *Radha-Krishna rupa* he is with Radha, either in a dance move or in a *tribhanga* posture, playing on flute or poised otherwise amorously. With cows around, he is Dhenu Gopal and with flute on his lips, he is Venu Gopal. Some of the popular icons of Bal Gopal, represent him as holding in one of his hands a laddu, the form known as Laddu Gopal, as stealing butter, known as Makhan-chor, holding a butter-pot, known as Navaneet Krishna and the like. Any of these forms may enshrine a sanctum, but his icons depicting his exploits against evil, other than one subduing Kaliya, are not much preferred as a votive image. The globally revered Banke Bihari temple at Vrindavana enshrines the triple curved Krishna image with flute on his lips, though such flute is represented only symbolically. The gold complexioned nude Navaneet Krishna, seated under a well adorned sanctum inlaid with precious stones is the iconographic vision of the South Indian shrines. All ISCON temples enshrine Radha Krishna in an amourous dance pose.

The ingenuity of Krishna image is, however, seen in the medieval miniature painting, which presents him in thousands of modes and situations of love and sensuality and discover in them the subtlest means of spiritual elevation and transcendence. *Each* of the paintings illustrating *Bhagavata Purana, Gita-Govind, Surasagara, Rasikpriya, Bihari Satsai* and numerous other *Krishna-lila* related

texts is a drama enacted in lines and colours. In them, he has been used for personifying *Ragas* and the *Baramasa-type* abstractions, as also to model various *Nayakas*, the hero types, as per Indian classical canons. The paintings of this group range from the large size cloth paintings, the well-known *pichhawais*, to the paintings rendered on a piece of palm-leaf or a rice like tiny object and from his innocent childhood tricks to his *Rasa*, the dance in a ring, and erotic involvement with Radha and Gopis. These painting showed still greater ingenuity in diversifying krishna's *Bal-rupa*. In Krishna-*lila* paintings. although different regions discovered in them their own styles and iconic characteristics, the theme, with its dramatic effects, stunning actions, deeply moving emotions, pictorial quality, lyricism and the all-pervading mysticism, overrides the iconography. Even in regional perception, it is the image and not the style of rendering it that matters more. To the Pahari artist, he is a village stripling, very much like the one from his own neighbourhood; to the Rajasthani painter, he is the model for any ruler to copy his dressing style, sensuality and art of love making; and to the Tanjore artist, he is a nude butter eating and butter like tender fleshy, plump and cute child glowing with moon's brilliance. Texts prescribed iconograpohic specifications for rendering his image, but with tooo dynamic a form, if a form he ever had, he hardly ever allowed a prescription to arrest him into a specific model.

❑❑

बालकमउ, इलाहाबाद, की अप्रकाशित दुर्लभ पाषाण जैन प्रतिमाएं

डॉ देवप्रकाश शर्मा*

इलाहाबाद जनपद (24°041'–25°47' उत्तर अक्षांस से 81°9' पूर्व देशान्तर)[1] उत्तर प्रदेश में गंगा यमुना नदियों के मध्य अवस्थित होने के कारण पुरातात्विक शोध की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस जनपद के चौपनी माण्डो, मेहगढ़ा एवं कोल्डीहवा, स्थलों से उत्खनन द्वारा पाषाण काल तक की पुरा सामग्री प्रकाश में आई है।[2] यहाँ के कौशाम्बी[3], शृंगवेरपुर[4], भीटा[5], झूँसी[6], कड़ा[7], भरद्वाज आश्रम[8], लक्षागिरि[9] तथा दुर्वाषा आश्रम[10] से 1100–70 ई0पू0 तक की प्राचीन पुरा सामग्री सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त हुई है। वर्ष 1981–82 में पुरातात्विक अनुसंधान के फलस्वरूप इस जनपद के निकट तहसील के बालक मऊ स्थल से प्रारम्भिक काल की जैन एवं हिन्दू पाषाण प्रतिमाओं की खोज की है जो एतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

बालक मऊ इलाहाबाद शहर से 45 कि0मी0 पश्चिम तथा सैनी से 1 कि0मी पूर्व जी0टी0रोड से 2 कि0मी0 दक्षिण में स्थित है। यहाँ से गंगा नदी 5 कि0मी0 उत्तर की तरफ है। इस क्षेत्र के निकटवर्ती पूर्व अन्वेषित प्राचीन स्थली कड़ा से 19 कि0मी0 पूर्व श्रृंगवेरपुर से 28 कि0मी0 पश्चिम तथा कौशाम्बी से यह स्थल 35 कि0मी0 उत्तर की तरफ स्थित है। प्रस्तुत लेख में बालकमऊ में दुर्भभ पाषाण जैन प्रतिमाओं का मात्र निर्दशन प्रस्तुत किया है। यहाँ से प्राप्त निम्न जैन प्रतिमाएं विशेष महत्व की हैं।

1. जैन तीर्थकर पद्म प्रभु की प्रतिमा:' आबू की बैठी जैन तीर्थकर प्रतिमा विशेष महत्व की है। प्रतिमा भूरे बलुआ पत्थर पर निर्मित है तथा उसका आकार 87X61X37 से0मी0 है। जैन तीर्थकर पद्म प्रभु को पद्मासन मुद्रा में बैठे प्रर्वतित किया गया है। तीर्थकर की नाक, हाथों का निचला भाग प्रतिमा के ऊपर की तरफ बांया भाग एवं पादुका का भाग अंशतः भग्न तीर्थकर सिंह के आसन पर विराजमान हैं। प्रतिमा के दोनों तरफ यक्ष एवं यक्षणी त्रिभंग मुद्रा में खड़े दर्शाया गया है। यक्ष का मुख ध्वस्त है। यक्षणी हाथ में गदा धारण किये है। प्रतिमा के नीचे बांये कोने में वामन आकृति का अनुचर उत्कीर्ण है। तीर्थकर के सिर पर अगुंष्ठमात्र कुंचित केशों से आच्छादित हैं तथा आँखें नीचे की तरफ देख रही हैं। इनके कान लघु आकार के हैं तथा मुख पर सौम्य सौन्दर्य एवं प्रसन्नता की अनुभूति विद्यमान है। तीर्थकर कमल पर आसीन, पैर के तलवे में पद्म का अंकन है तथा वक्ष स्थल पर श्री वत्स प्रदर्शित है। कमलपीठ एवं पैर के तलुओं में कमल के अंकन के आधार पर यह प्रतिमा पद्मप्रभु की मानी जा सकती है। प्रस्तुत प्रतिमा में प्रर्दशित यक्ष एवं यक्षणी की प्रतिमा का समीकरण कुश मा यक्ष .... या मा यक्षणी से की जा सकती है जो पद्म प्रभु की प्रतिमाओं में उनके साथ किनारे पर उत्कीर्ण की जाती हैं। जैन पुराण पद्मप्रभु का आदि निवास स्थान कौशाम्बी मानते हैं।

''जम्बू दीपे च कौशाम्ब्या पति रिव्या कुवशंज।

पूर्व निदेशक, भारत कला भवन, वाराणसी

गौत्रेण कश्यपो राजा चारणलो महानभूत।।

तस्य देवो सुसोभाख्या रत्न वृष्टि या विभानिता।''

उत्तर पुराण

पद्मप्रभु की गुप्त एवं उत्तर गुप्त काल की प्रतिमाएं कौशाम्बी से भी प्राप्त हुई हैं जो अब प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। कला शैली के आधार पर इस प्रतिमा का काल छठीं से सातवीं श0ई0 सन् से निर्धारित किया जा सकता है।

2. जैन तीर्थंकर महावीर :– यहाँ से जैन तीर्थंकर महावीर की पद्मासन मुद्रा में बैठी एक अन्य प्रतिमा, कला शैली की दृष्टि से विशेष महत्व की है। मूर्ति भूरे बलुआ पत्थर पर निर्मित है तथा उसका आकार 140X100X35 से0मी0 है। पादुका के भाग के मध्य में महावीर का लांछन सिंह उत्कीर्ण है। प्रतिमा का बांया हाथ अंशतः तथा दांया हाथ पूर्णतः क्षतिग्रस्त है। प्रतिमा के दोनों तरफ मातम यक्ष त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित है। प्रतिमा के मुख एवं वक्ष पर तैल के लेपन से यह भाग काला हो गया है सिर पर अंगुष्ठ मात्र किंचित केश तथा मुख पर सौम्य सौन्दर्य परिलक्षित है। मुख पूर्णतः गोल, आँखे ध्यान मग्न हैं। सिर के पीछे प्रभामण्डल एवं ऊपर छत्र सुशोभित है सिर के दोनों किनारे पर कोष्ठकमें पद्मासन मुद्रा में लघु जैन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं। छत्र के ऊपर संगीत मण्डली प्रदर्शित है। प्रतिमा के मध्य दोनों तरफ शार्दुल उत्कीर्ण है। महावीर जैन धर्म में सर्वशक्तिमान अन्तिम चौंतीसवें तीर्थकर माने गये हैं। महावीर की प्रतिमायें अधिकांशतः बैठी मिली हैं। इस सन्दर्भ में विवेचित प्रतिमा भी इसी वर्ग में रखी जाती है कला शैली के आधार पर प्रतिमा का काल 9वीं–10वीं श0 ई0 सन् निर्धारित किया जा सकता हैं। महावीर की प्रतिमा में सिंह का लांछन चिन्ह उसके आत्मीय वीरता का प्रतीक है। दोनों नीचे किनारों पर यक्ष को गज पर सारूढ़ दिखाया गया है जो महावीर के राजसत्ता के प्रतीक बैठी जैन प्रतिमाएं राजगीर ग्वालियर, देवगढ़ एवं मथुरा से प्राप्त हुई हैं।

3. जैन तीर्थंकर अजीतनाथ :– मऊ से जैन तीर्थंकर अजीतनाथ की पद्मासन में बैठी प्रतिमा प्रकाश में आई है। प्रतिमा बलुआ भूरे पत्थर पर निर्मित है तथा उसका आकार 110 X 89 X 33 से0मी है। पादुका वाले भाग के मध्य में लांछन चिन्ह गज उत्कीर्ण है। मुख्य प्रतिमा के शरीर एवं मुख पर तैल के लेपन से वह काली दिखाई पड़ती है। प्रतिमा का काल 9वीं–10वीं श0ई0सन् निर्धारित किया जा सकता है। सिर के पार्श्व में पद्म एवं ऊपर छत्र उत्कीर्ण है। केश किंचित तथा मुख पर सौम्य सौन्दर्य तथा तीर्थंकर ध्यान मग्न हैं। नीचे दोनों किनारों पर महायक्ष सीधे खड़े प्रदर्शित दोनों हाथ जंघों के पास हैं मुख के दोनों तरफ गजारोही उत्कीर्ण हैं तथा उनके नीचे त्रिरत्न है। ऊपर दोनों किनारों पर महायक्ष खड़े प्रदर्शित हैं जिनके मध्य संगीत मण्डली दर्शायी गयी है। अजीतनाथ की माता ने उनके जन्म से पूर्व गज को स्वप्न में देखा था इसी कारण जैन प्रतिमाओं में अजीतनाथ का लांछन गज माना गया है।

दैवि विजयसेनाख्या षोडश स्वप्न पूर्वकम्।
प्रविशन्त विलोक्यात्मवषत्रान्ज गथ सिन्दुरम्।।

उत्तर पुराण 48

4. जैन तीर्थंकर आदिनाथ : भगवान आदिनाथ पद्मासन मुद्रा में बैठे प्रदर्शित किये गये हैं। प्रतिमा भूरे बलुआ पत्थर पर निर्मित है तथा उसका आकार 100 X 76 X 28 से0मी0 है। प्रतिमा के पार्श्व में किसी प्रकार की आकृति उत्कीर्ण नहीं है। सिर पर किंचित केश, मुख गोलाकार तथा उस पर सौम्य परिलक्षित आँखें नीचे की तरफ देख रही हैं। दोनों कंधों पर बालों की लट् दर्शायी गयी है। कन्धों पर लटों के आधार पर यह प्रतिमा आदिनाथ की मानी जा सकती है जो 17वें तीर्थंकर थे। कला शैली के आधार पर प्रतिमा का काल पाँचवी–छठीं श0ई0 सन् तक निर्धारित किया जा सकता है।

सन्दर्भ :

1. नाविल, इलाहाबाद ए गजेटियर वाकूम XX111 (इलाहाबाद–1928)
2. मिश्रा–बी0डी0सम एक्सपेक्ट ऑफ प्री हिस्ट्री (इलाहाबाद–1977)
3. घोष, एन0एन0,एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ प्री कौशाम्बी (इलाहाबाद–1935)
4. लाल, बी0बी0,श्रृंगवेरपुर ए को साइट पर द प्रोटो हिस्ट्री एण्ड अर्ली प्री हिस्ट्री ऑफ द सेन्ट्रल गंगा वेली, पुरातत्व नं0 10 (नई दिल्ली–981)
5. आर्कयालोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया वार्षिक रपट 1911–12 पृ0 29–94.
6. वर्ष 1979 में प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विषय के शोधकर्ताओं सर्व श्री देव प्रकाश शर्मा एवं बाल गोविन्द ने सर्वेक्षण क्रम में एन0वी0पी0 मृदभाण्ड कड़ा से एकत्र किये।
7. काला, एस0सी0, एन्टीक्यूटीज फाम झूँसी इन द इलाहाबाद म्यूजियम जर्नल ऑफ इण्डियन म्यूजियम वालूक XIXI (कलकत्ता–1958–60)
8. लाल, वी0पी0 भरद्वाज आश्रम द आर्कयालोजिक इविडेन्स इन पुरातत्व
9. काला, एस0पी0 लक्षागिरि जनरल ऑफ द यू0पी0 हिस्ट्री सोसायटी (न्यू सीरीज) वालूक XI लखनऊ 1954–पृष्ठ 35–38.
10. देव प्रकाश शर्मा दुर्वाषा आश्रम से एन0वी0पी0 मृदभाण्ड प्रकाश में आये देखिये अमृत प्रभात दैनिक समाचार–पत्र, इलाहाबाद–198

◻◻

“संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक”

कालिदासीय काव्य का मूर्तिकला पर प्रभाव

—प्रो0 हरिदत्त शर्मा

मानव की शब्दार्थमयी भावरूपा सृष्टि है काव्य, जिसका स्रष्टा अपार काव्य संसार का विधाता कवि होता है, जो अपनी अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिमा के बल से इसकी सर्जना करता है। यह शिल्पी विश्व में व्याप्त विविध सौन्दर्याधायक तत्वों द्वारा अपनी कला को समग्रता प्रदान करता है। कविता–कामिनी के विलास कवि कालिदास इसी सौन्दर्यतत्व के उपासक कवि हैं। उनका समग्र काव्य संसार इसी सौन्दर्य तत्व से भरा पड़ा है। उनके सौन्दर्य–विधान की उपादान भूमि है भारतभूमि तथा प्रकृति की यह सुरम्य विशाल रंगस्थली। उन्होंने भारतभूमि तथा प्रकृति के प्रांगण में फैले विविध सौन्दर्य–प्रतिमानों को मोटिफ के रूप में ग्रहण किया और समय–समय पर अनेक शिल्पकारों, चित्रकारों एवं मूर्तिकारों ने उन्हें कलाकृतियों के रूप में नव रूपान्तर प्रदान किया। कला कालिदास की कविता में अन्तर्निहित है। कालिदास केवल कवि ही नहीं हैं, अपितु कलाकार कवि हैं, जैसे कि एक स्थान पर सी0 शिवराममूर्ति ने कहा है— 'Kalidasa is not only 'the poet's poet', but also 'the artist's poet'.' कालिदास के काव्यों–विशेष रूप से उनके नाटकों में— संगीतकला के तत्व भरे पड़े हैं। संगीत के प्रसंग में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के ये शब्द स्मरणीय हैं—

''कविवर ! कवे... पुंजीभूत

चित्रकला के भी अनेक सन्दर्भ कालिदासीय काव्यों में मिलते हैं। अनेक चित्रकारों ने कालिदास के दृश्यविधान पर अपनी तूलिका चलाई है। कालिदास ने अपने काव्य में जिस बिम्बविधान और प्रतीक–प्रयोग को रूपायित किया है, उन्हीं बिम्बों, प्रतीकों, मोटिफों एवं कवि–कल्पनाओं को कलाकारों ने अपनी कलाओं में रूपान्तरण किया है, उसी शब्द शिल्प को मूर्तिकारों ने मूर्तिशिल्प में परिवर्तित कर दिया है। कालिदास के काव्यों में मूर्तिकला का प्रत्यक्ष प्रयोग संगीतकला एवं चित्रकला की भाँति तो नहीं है, पर उनका भारतीय मूर्तिकला पर दीर्घगामी प्रभाव पड़ा है और अनेक मूर्तिशिल्प तो कालिदासीय साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर ही निर्मित हुए हैं।

कालिदास ने अपने काव्यों में जिन देवताओं, अर्ध देवताओं एवं मानवेतर योनियों को स्थान दिया है। उनमें प्रथम हैं भगवान शिव। रघुवंश का आरम्भ पार्वती–परमेश्वर की वन्दना से होता है, मालविकाग्निमित्र व विक्रमोर्वशीय का आरम्भ शिव वन्दना से होता है; अभिज्ञान शाकुन्तल का आरम्भ–और अन्त शिव वन्दना से होता है, कुमार सम्भव तो शंकर को केन्द्र में रखकर रचा ही गया है। कालिदास ने अष्टमूर्ति, त्रयम्बक, त्रिनेत्र, नीललोहित, नीलकण्ठ, महाकाल, विश्वनाथ तथा गोकर्ण के शिव के रूप में उनकी चर्चा एवं वर्णना की है। कल्याणसुन्दर, त्रिपुरान्तक, गंगाधर, अर्धनारीश्वर एवं रावणानुग्राहक आदि शिव के मूर्तिलेखन सम्बन्धी रूप हैं। कालिदास ने कुमारसम्भव महाकाव्य के तृतीय सर्ग में देवदाररूद्रुम के नीचे वेदिका पर आसीन समाधिलीन शिव का जो योगदशा का चित्र खींचा है,

सेवा निवृत्त प्रोफेसर, उज्जैन विश्वविद्यालय, उज्जैन

उससे प्रभावित अनेक मूर्तिशिल्पों की रचना हो चुकी है। वे वर्णन करते हैं–

स देवदारूद्रुमवेदिकायां, शार्दूल चर्मव्यवधानवत्याम्
आसीनमासननशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श।।
पर्यंकबन्धसिथरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवांकमध्ये।।
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्ताद्विगुणाक्षसूत्रम्।
कण्ठप्रभासंगाविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमर्ती दधानम्।।
किचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भूविक्रियायां विरतप्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः।।
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरूतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।।
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरूदितैः शिरस्तः।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मी ग्लपयन्तमिन्दोः।।
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।।

(कुमार0 3/44–50)

शिव की एकाकी प्रतिमा के अतिरिक्त शिव–पार्वती की युगल प्रतिमा की रचना में भी कुमार सम्भव का पर्याप्त योगदान है। भारतीय मूर्तिशिल्पी ने कुषाणकाल में उमा महेश्वर की स्थानक मुद्रावली और फिर गुप्तकाल में स्थानक तथा आसनस्थ दोनों प्रकार की प्रतिमाएं गढ़ी, उनके प्रेरक तत्व के रूप में कुमार सम्भव का बहुत बड़ा हाथ है। कुमारसम्भव में उल्लेख है कि विवाहोपरान्त अपने वृषभ नन्दी पर उमा को आगे बिठाकर और उनके स्तनों को पकड़े–पकड़े शिव मेरू, मन्दराचल, कैलाश, मलय, नन्दनवन, गन्धमादन आदि क्रीडाशैलों पर विहार करने के लिए निकल पड़े। ये शिव की स्थानक मुद्रा के प्रेरक प्रसंग हैं। आसनस्थ मुद्रा का प्रेरक प्रसंग आगे आता है जहाँ सूर्यास्त के समय शिव एक स्वर्णशिला पर बैठ गए और अपनी बाई भुजा के सहारे उन्होंने उमा को उठा लिया–

तत्र कांचनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यवलोक्य भास्करम्।
दक्षिणेतर भुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम्।।

(कु0 8/29)

इसी के आगे का प्रसंग है कि जब शिव पार्वती के साथ कैलाश पर्वत पर विहार कर रहे थे उसी समय पार्वती की सखी विजया और जया आई तो उन्होंने देखा कि पार्वती शंकर की गोद में बैठी हुई हैं और वे इसी अवस्था में उनका श्रृंगार करने लगीं–

अन्तःप्रविश्यावसरेऽर्थ तत्रस्निग्धे वयस्ये विजया जय च।

सुसम्पदोपाचरतां कलानामङ्के स्थितां तां शशिखण्डमौलेः।।

(कु0 9/32)

इस तरह के वर्णन आसनस्थ उमा महेश्वर मुद्रा के प्रेरक माने जा सकते हैं। नटराज शंकर की भुजतरूवन रूप में बनी एक मुद्रा बदामी में प्राप्त होती है, जिसकी चर्चा कालिदास ने मेघदूत में की है–

पश्चादुच्चैर्भुजतरूवनं मण्डलेनामिलीनः।

(पू0मेघ0 39)

मथुरा संग्रहालय में एक रमणी की ऐसी प्रतिमा प्राप्त होती है, जिसमें वह शीशे में अपने संभोग चिन्हों को देख रही है। इस स्थिति का वर्णन कालिदास ने कुमारसम्भव एवं रघुवंश दोनों के प्रसंगों में किया है–

प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा संभोगचिन्हं स्ववपुर्विभाव्य।

(कु0 9/39)

दर्पणेषु परिभोग दिर्शिनीर्नपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः।

(रघु0 19/28)

रमणी के पैरों में लाल महावर या आलता का लेप श्रृंगार करने वाली दासी से कराये जाने की जो मुद्रा अमरावती मुद्रा में प्राप्त होती है, उसके प्रेरणास्त्रोत भी कालिदास ही प्रतीत होते हैं। रघुवंश में प्रसाधिका (beautician) द्वारा आलता लगाये जाने का ऐसा ही एक चित्र है–

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव।

उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्ताकाङ्का पदवीं ततान।।

(रघु0 9/9)

कुमारसम्भव में तो इस आलते लगाने के प्रसंग को सखी द्वारा की गई मीठी ठिठोली में घोलकर प्रस्तुत किया गया है–

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।

सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान।।

(कुमार0 7/19)

शिव की भाँति पार्वती के अनेक रूपों को रूपायित कर कालिदास ने शिल्पकारों को विषय सामग्री प्रदान की है। कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग के 52 से 56 तक के पद्यों में तपस्यालीन शंकर की सेवा में रत पार्वती का वर्णन तथ पंचम सर्ग के 14 से 29 तक पद्यों में तपस्यारत पार्वती का वर्णन कर कालिदास ने सुन्दर मूर्ति रचना की सामग्री एकत्र की है। कुमारसम्भव में शंकर की तपस्या भंग करने वाले कामदेव का शरसन्धान करना तथा अन्य समस्त चेष्टाएँ किसी भी शिल्पकार के लिए रोचक विषयवस्तु है। भारतीय शिल्प में षडानन कार्तिकेय को भी स्थान मिला है, जो कालिदास के कुमारसम्भव का प्रमुख पात्र है, तथा 11वें सर्ग में उसके बाल स्वरूप का सुव्यवस्थित वर्णन प्राप्त होता है। ग्यारहवें सर्ग का यह कुमार स्कन्द तारक तथा अन्य असुरों के विनाश के लिए बारहवें तेरहवें सर्ग तक पहुँचने पर ब्रम्हा एवं इन्द्र द्वारा देवसेना का सेनापति बना दिया जाता है–

अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारसेनं प्रतनापतित्वे।
निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेष भुक्तु भूयोअपि सुरैः सहेन्द्रः।।

(कुमार0 12/56)

राजधानी के राष्ट्रीय संग्रहालय में यह दृश्य एक भग्न मूर्तिशिल्प में दृश्यमान होता है।

रघुवंश में कालिदास ने रामकथा का अंकन किया है। उन्होंने अहिल्या उद्धार, धनुर्भंग, राम–वनगमन, सूर्पणखा–नासिका–छेदन, सीताहरण, सीता की खोज, अशोक वाटिका में सीता, सेतु–बन्धन, राम–रावण–युद्ध आदि जो भी वर्णन किये हैं, गुप्तकालीन शिल्प में उनका दर्शन होता है और वे 11वीं, 12वीं शताब्दी के दक्षिण–पूर्व एशिया के मन्दिरों में भी उत्कीर्ण हैं, पर यह कहना कठिन है कि उन पर वाल्मीकि का प्रभाव है या कालिदास का।

देवमूर्तियों के वर्णन के अतिरिक्त कालिदास ने अर्धदेवों के स्वरूप–वर्णन कौशल दिखाया है। कालिदास ने अपने अमर विरहगीत मेघदूत के माध्यम से यक्ष की मूर्ति को अमर बना दिया है। मेघदूत का मेघ का आव्हान करता विरही यक्ष तो सभी चित्रकारों और शिल्पकारों को बहुत भाया है और वह उनकी कला का प्रिय विषय बन गया है। वस्तुतः अलकापुरी में कैलाश पर्वत के शिखर पर रहने वाले यक्ष विलासितापूर्ण जीवन बिताते हैं, वहाँ मन्दाकिनी का शीतल जल बहता है, मन्दारवृक्षों की शीतल छाया उनके ताप मिटाती है, मानसरोवर में स्वर्णिम कमल खिलते हैं, वहाँ वैभ्राज नाम का मनोरम उपवन है, जहाँ वे अपनी प्रियतमा अप्सराओं और देवांगनाओं के साथ मदिरापान लेते हुए सानन्द विहार करते हैं–

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु।।

(उत्तरमेघ–5)

वैभ्राजाख्यं विबुधवनिताशरमुख्यासहायाः
बद्धालापा बहिरूपवनं कामिनो निर्विशन्ति ।।

(उत्तरमेघ–5)

मौर्य, सातवाहन एवं शुंग कला के अनेक मूर्तिकारों ने मूर्तिनिर्माण में कालीदास के इस रचना–विध ाान को ध्यान में रखा है। यक्षों के साथ ही किन्नरों एवं सिद्धों की चर्चा भी आई है और वे भी देवयोनि के हैं। यक्षों के साथ यक्षिणियों के वर्ण भी कलाकारों की कल्पना को उद्दीप्ता करने में समर्थ हैं। कालिदास का कलाकार कवि पहले ''तन्वी श्यामा शिखरिदशना पवललिम्बधरोंष्ठी'' कहकर विधाता की आद्या सृष्टि रूपा उस युवती के सौन्दर्य का चित्र खींचता है और बाद में उसी यक्षिणी की विरहावस्था का जो वर्णन ''चक्रवाकीमिवैकाम्'' तथा ''शिशिरमथितां पद्मिनीं वाडन्यरूपाम'' आदि रूप में करता है वह मूर्तिकार और चित्रकार को प्रभूत सामग्री देकर चला जाता है। यक्ष मेघ से कहता है कि उसकी विरहव्यथिता प्रियतमा या तो तुम्हें देवताओं को फूल चढ़ाती मिलेगी अथवा अपनी कल्पना से मेरे इस विरहकृश शरीर का चित्र बनाती होगी या पिंजड़े में बन्द अपनी मिठबोली मैना से यह पूछती होगी कि क्या तुम्हें भी यह प्रियतम की याद कभी आती है, क्योंकि तुम भी उनकी बहुत प्यारी थीं।

पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्चरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके! त्वं हि तस्य प्रियेति।।

(उत्तरमेघ–25)

मथुरा के निकटवर्ती भूतेश्वर से प्राप्त, कुषाणकालीन भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में सुरक्षित यह मूर्ति इसी भाव को व्यञ्जित करती है। इस देह सौन्दर्य से भास्वर युवती के हाथ में तोते का पिंजड़ा है तथा तोता उसके कन्धे पर बैठकर उसके घुँघरले बालों में चोंच मार रहा है। यक्षिणी विरह काल में किस तरह अपनी स्वरचित कल्पनाओं द्वारा अपने अंगों से प्रियतम के अंगो के साथ गाढालिंगन करती है। इस मूर्ति को भी मूर्तिकारों ने अपनी चातुरी से रचा है। अजन्ता एवं एलोरा में इन वर्णनों का प्रभाव पाया जाता है।

कालिदास के नाटकों के कतिपय दृश्यों को भी शिल्पकारों ने स्थान दिया है प्रयाग के समीप में जो मृग का पीछा करते हुए रथारूढ़ राजा की मुद्रा प्राप्त हुई है, उसे शुंगकालीन बताया गया है और यह कालिदास के शाकुन्तल नाटक से प्रेरणाप्राप्त है। शकुन्तला तृतीय अंक में राजा दुष्यन्त को प्रेमपत्र लिखती है। भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में 11वीं शती की ऐसी एक मूर्ति उपलब्ध है। इसी तरह दुष्यन्त पुत्र भरत द्वारा सिंह के दाँत गिनना, मालविकाग्निमित्रम् में मालबिका का नृत्य एवं विक्रमोव्रशीयम् में राजा पुरूरवा द्वारा प्रकृति के विविध उपादानों से उर्वशी के विषय में पूछना कलाकारों का अपहृत उत्तम विषय है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों को प्रकृति के सुकुमार कवि कालिदास ने विभिन्न रूपों में दर्शाया है कल्पवृक्ष या कल्पवल्ली जो कालिदास के मेघदूत में स्त्रियों के समस्त श्रृंगार प्रसाधन अकेला ही दे देता है–

वासश्चित्रं मधु ....
एकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ।

(मेघ. उत्तर.–12)

शाकुन्तल में तो वृक्षों के रूप में वन देवताओं ने अपने हाथों से शकुन्तला को आभूषण प्रदान किये–

अन्येभ्यों वनदेवताकरतलैशपर्वभागोत्थितै

र्दत्तान्याभरणामि तत्किसलयोद्‌भेदप्रतिद्विन्दिभिः।।

(अभि. 4/5)

भरहुत की मूर्तिकला में इसी तरह कालिदासीय पंक्तियों के अनुसार ही वृक्षों और लताओं द्वारा पल्लवरूपी हस्ताग्रों से विविध उपहार देते हुए दिखाया गया है और उन्हें ग्रहण करने वाले अनेक युगल भी वहाँ उत्कीर्ण हैं। बोधगया और मथुरा के संग्रहालयों में इन उपहारों से भरे वनदेवताओं के हाथ वृक्षों के तने से बाहर निकलते हुए दिखाये गए हैं। उपहारों में विविध प्रकार के वस्त्र एवं आभूषण स्पष्ट दिखाई देते हैं। कालिदास की रमणियों द्वारा प्रकृति के उपवन से तोड़े गये ताजे पुष्पों को अपना कर्णाभूषण बनाना अथवा अपने बालों में खोंसना शिल्पकारों को बहुत भाया है और इन पंक्तियों को उन्होंने शिल्पों में ढाला है–

चूडापाशे नवकुरबकं चारू कर्णे शिरीषं

सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम।

(उत्तरमेघ–2)

किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणर्पितः।

(रघु0 9/28)

वृक्षों में होने वाला दोहद संस्कृत कवियों का अत्यन्त प्रिय कविसमय है। तरूलताओं में यह अकाल में होने वाला पुष्पों का विकास रमणियों की विविध प्रकार की क्रियाओं द्वारा होता है। उत्तर मेघ में कालिदास ने कहरी संवेदना के साथ रक्ताशोक और बकुल वृक्ष में इसे दिखाया है–

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः

प्रत्यासन्नै कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।

एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी

काङ्.क्षयत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः।।

(उत्तरमेघ–18)

कुषाण कला में रक्ताशोक तरू के नीचे खड़ी हुईएक स्त्री को दिखाया गया है, जिसमें बांये पैर से वह अशोक के निचले भाग का स्पर्श कर रही है और अशोक में फूल खिले हैं। यही भाव कालिदास ने मालविकागिनमित्र नाटक में व्यक्त किया है–

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला

स्फुरितनखरूचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।

अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा

प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम्।।

(मालविका. 3/12)

बोधगया में एक शिल्प में दोहद की ओर उन्मुख रमणी के पैर में प्रियतम स्वयं महावर लगाता

है। यह शिल्प कालिदास के रघुवंश में अग्निवर्ण के चेष्टा में दिखाई पड़ता है–

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः।

(रघु. 19/26)

लघु तरु–पदपों को पुत्रवत् मानना, उनका पालन करना कालिदास की कल्पना है। 11 वीं शताब्दी के एक मूर्तिशिल्प में शिशुरूप वृक्ष को वात्सल्य स्नेह करती हुई एक स्त्री दिखाई देती है, जो कालिदास के रघुवंश और मेघदूत की इन पंक्तियों को चरितार्थ करती हुई प्रतीत होती है–

अमुं पुरः पश्यसि देवदारूं, पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।

(रघु. 2/36)

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः।।

(उत्तरमेघ–15)

इस प्रकार कवि कुलगुरू कालिदास की काव्यकला का परवर्ती मूर्तिकला पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

❑❑

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

ओसिया स्थित महावीर मन्दिर का समालोचनात्मक अध्ययन उत्तर भारतीय जैन मन्दिरों के विशेष सन्दर्भ में

डॉ शशीबाला श्रीवास्तव

भारत के मरूस्थलीय अंचल में अवस्थित ओशिया ग्राम के प्राचीन मन्दिर सिक्ता राशि के अनन्त विस्तार में एकांकी खड़े हुए अपने अतीत की गौरव गाथा सुना रहे हैं।[1] यह स्थल[2] जोधपुर[3] से पोखरण के मार्ग पर बत्तीस मील दूर स्थित है तथा सम्पूर्ण राजस्थान में ''ओसवाल'' वणिकों के मूल निवास के रूप में सुविदित है। जैन ग्रन्थों में यह ''उपकेश पछवन'' के नाम से उल्लिखित है ''ओसिया'' नाम की इस नगरी के नाम के विषय में एक महत्वपूर्ण रोचक दन्त कथा प्रचलित है कि शत्रु द्वारा पराजित परमार नरेश उप्पलदेव ने प्रतिहार नरेश के इस क्षेत्र में शरण पायी थी। अतः स्थल का नाम ओसिया (ओस्टा–मारवाड़ी भाषा के अनुसार शरण)[4] पड़ा। इतना ही नहीं जैन सम्प्रदाय से इस क्षेत्र की सम्बद्धता के सन्दर्भ में भी अत्यन्त रोचक लोक धारणा व्याप्त है। इसके अनुसार इसी परमार नरेश उप्पल दे ने स्थल पर अवस्थित सच्चिय माता का मन्दिर निर्मित कराया। यही देवी सांख परमारों की कुल देवी थी। अनेक वर्षों के उपरान्त जैन साधु हेमाचार्य के शिष्य रतन प्रभु का इस क्षेत्र में पदार्पण हुआ जिन्होंने सम्पूर्ण राज्य को जैन धम्र स्वीकार करने के लिये कहा परन्तु ऐसा न होने पर रतन प्रभु ने एक चमत्कार दिखाया और अपनी शक्ति द्वारा एक सर्प बनाया जिसने राजकुमार को डस लिया। सर्प के विष से राजकुमार को मुक्ति दिलाने हेतु किये गये सभी प्रयास निष्फल हो गए एवं राजकुमार मृतप्राय होने लगा। पुत्र शोक से विहव्ल नरेश ने तभी घोषणा की कि पुत्र की जीवन की रक्षा करने वाले को वे कुछ भी (मुँह मांगी वस्तु) दे देंगे। रतन प्रभु ने दरबार में उपस्थित होकर उसी सर्प का आव्हन किया एवं उससे राजकुमार के अंग का विष पुनः का खींचने के लिए कहा। अतः उन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया परन्तु इन कृत्यों से कुल देवी सच्चिय माता रूष्ट हो गयी। वे संहार करने लगीं और नाना प्रकार की विपत्तियाँ प्रजाजनों पर आने लगीं। ऐसी विकट स्थिति में सभी ''ओसवाल (ओसिया के मूल निवासी) सभी दिशाओं में अपनी रक्षा हेतु भागने लगे परन्तु अनेक ने माँ की प्रार्थना की कि वे उन्हें विवाह आदि शुभ कार्यो के पश्चात् उनकी चढ़ावा चढ़ाने की आज्ञा दें। ज्ञातव्य है कि कोई भी ओसवाल माँ का चढ़ावा चढ़ाने के पश्चात् उस रात्रि में ओसिया में नहीं रूकता किसी संकट या विपत्ति के भय के कारण।[5] यहाँ तक कि वर्तमान समय में भी लगभग ऐसी ही स्थिति है।[6] उपकेश कक्ष से सम्बद्ध जैन कथाएं अनेक संदर्भो से उपलब्ध होती हैं जो जैन धर्मावलम्बियों से स्थल की निकटता को स्वयमेव सिद्ध कर देती है।

प्राचीन उपकेश एवं अर्वाचीन ओसिया प्रतिहार एवं परमार काल से ही समृद्धिशाली नगरी थी। इसके वैभव की पुष्टि यहाँ के सिक्ता राशि में निरन्तर धूप, वर्षा एवं शीत को सहते हुए खड़े लगभग छोटे बड़े तीस देवालय हैं। पश्चिमी भारत के विभिन्न समूहों में यह मन्दिर समूह सर्वाधिक विस्तृत है

जो अधिकांशतः प्रतिहार एवं कतिपय परमार काल की कला संस्कृति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रभृत विद्वान ढाकी ने अपने लेख में जैन स्थल की जैन धर्म से सम्बद्धता के विषय में स्पष्ट लिखा है–

अन्तिम बिन्दु (तथ्य) वास्तव में अत्यधिक महत्वपूर्ण है जिसने प्रस्तुत लेख के विषय का चयन करने में निर्णायक भूमिका अदा की। यद्यपि इस प्राचीनतम हो रही है।

पद्मावती

गूढ़ मण्डप के उत्तर–पूर्वी कर्ण पर उत्तर मुख रथिकर में जैन यक्षी पद्मावती की स्थानक त्रिभंग आकृति प्रदर्शित है। द्विमुख देवी करण्ड भृकुट, कर्णाभरण, मुक्ताहार, कटि मेखला एवं नुपुर से अलंकृत हैं। वे सारिका एवं उत्तरी कारण लिए हैं। सारिका की चुम्भटे अत्यन्त शोभनीय रीति से प्रदर्शित की गयी हैं। उनके दक्षिण कर में पूर्व विकसित पद्म है तथा बांये कर में उत्तरीय को सम्भले है। उनके मुख पर स्मित भाव प्रदर्शित है यह प्रतिमा अपने अंग सौष्ठव की दृष्टि से दीदारगंज की यक्षी से तुलनीय है।

शास्त्रीय नियमों के अनुसार पद्मावती जिस पार्श्वनाथ की यक्षी है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार इनका वाहन कुक्कुट एवं सर्प अथवा मात्र कुक्कुट है। प्रायः चतुर्भुज मूर्तियों में उनके करों में पद्म पाश एवं अंकुश प्रदर्शित करने का विधान है। उल्लेखनीय हे कि जैन ग्रन्थों में पद्मावती को चतुर्भुज से चर्तुविशंति भुजायुक्त मूर्तियों का उल्लेख है।[7] प्रायः सभी शास्त्रों में इनके शीर्ष पर सर्पगणों के घटाटोप की बात कही गयी है। परन्तु उपर्युक्त मेल मूर्ति में इनका अभाव है देवगढ़ से कोई दो त्रिभुज मूर्तियाँ उपलब्ध हुयी हैं। एक के करों में वरद मुद्रा एवं सनाल पद्म है तथा दूसरी में पुष्प एवं फल प्रदर्शित है। विवेचित प्रतिमा शास्त्रीय विधानों की कठोरता से मुक्त अत्यन्त सरल भाव से निर्मित कलाकार की सहज मनोवृत्ति की परिचायक है जिसमें प्रमुख तत्व पद्म को एक मुद्रा में प्रदर्शित कर दिया गया है तथा दूसरी भुजा नदी देवियों के समान उत्तरीय का छोर पकड़े हुए प्रदर्शित है।

अच्युता

अच्युता अथवा मनोवेगा जैन तीर्थकर पद्मप्रभ की यक्षी है। यह प्रतिमा गूढ़ मण्डप के उत्तर पश्चिमी कर्ण पर उत्तर मुख प्रदर्शित है। चतुर्भुज देवी कतिपय त्रिभग मुद्रा में हैं। वे कंचुकी, सारिका एवं उत्तरीय धारण किए हैं। करण्ड, मुकुट, बृहदाकार कुण्डल, भारी कण्ठाहार मेखला से अलंकृत देवी का स्वरूप पर्याप्त स्थूल रूप में अंकित है। पद्मावती के समान कमनीयता का पूर्णतः अभाव है। उनके पृष्ठ भाग में वाहन अश्व खड़ा है जिसे हार एवं वलगा से सजाया गया है। मुख भाग खण्डित हो गया है। देवी के दो करों में खड्ग तथा खेटक है। शेष दो करों की वस्तुएं यद्यपि खण्डित हैं परन्तु यह ब्रज एवं मातुलंग ही है। देवी के मुख पर शान्त भाव व्याप्त है।

जैन शास्त्रीय ग्रन्थों में अच्युता के प्रतिमा निर्माण का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार (निर्वाणकलिका) में उनके नर वाहन का उल्लेख है।[8] परन्तु दिगम्बर परम्परा (प्रतिष्ठासार संग्रह) में अश्ववाहना मनोवेगा (अच्युप्र) के तीन करों में– वरदमुद्रा, खेटक एवं खड्ग

का उल्लेख है। अपराजित पृच्छा में अश्ववाहना मनोवेगा के करों में बज्र, चक्र, फल एवं वरदमुद्रा दिखाने का विधान है।[9] कला में अच्युता की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं।[10] मात्र वारभुजी गुफा की मूर्ति के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रतिमाओं के निर्माण से अश्ववाहन, खड्ग एवं खेटक के प्रदर्शन में दिगम्बर परम्परा का पालन किया गया है। उपर्युक्त प्रतिमा के निर्माण में अपराजित पृच्छा के वर्णन के अनुसार दो करों में बज्र एवं फल है तथा शेष अंकन प्रतिष्ठासार संग्रह के निर्देशानुसार है।

चक्रेश्वरी

गूढ़ मण्डप के उत्तर पश्चिम कोन पर पश्चिमी पार्श्व की रथिका में चक्रेश्वरी की यह प्रतिमा स्थापित है। करण्ड, मुकुट, हार, भुजबन्द, कटिमेखला, नूपुर सारिका एवं उत्तरीय से सुसज्जित देवी त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित है। उनकी देह यष्टि कमनीय है, स्कन्धों से होता हुआ उत्तरीय दोनों पार्श्व में नीचे तक झूल रहा है। मुख पर शान्त भाव विद्यमान है। चतुर्भुज देवी के चतुः करों में चक्र प्रदर्शित है। उनके वाम पार्श्व में सपक्ष गरूण की मानव रूप में लघु आकृति त्रिभग मुद्रा में स्थित हे। कलाकार ने इन देवियों के हार का प्रदर्शन देवगढ़ की देवी मूर्तियों के हार की शैली में किया है। उल्लेखनीय है कि सारिका का अंकन भी ग्रामीण महिलाओं के घघरी के समान किया गया है। गरूड़ के दक्षिण कर में चक्र है तथा वाम कर जानु पर आश्रित है।

जैन ग्रन्थों में चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा जिन ऋषभनाथ की यक्षी है। श्वेताम्बर परम्परा में चक्रेश्वरी का अष्टभुज एवं द्वादशभुज तथा दिगम्बर परम्परा में चर्तुभुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों का उल्लेख है। कलाकारों ने चक्रेश्वरी की चतुर्भुजा से लेकर बहुभुजी मूर्तियों का निर्माण किया है। उल्लेखनीय है कि जैन देव कुल में अपतिचक्रा नाम वाली देवी महाविद्या के रूप में भी उल्लेख है। जैन ग्रन्थों में चतुर्भुजी अप्रतिचक्रा के वस्तुः करों में चक्र का निर्देश है। परन्तु शिल्प में इसका पूर्ण पालन न होने से गुजरात एवं राजस्थान में चक्रेश्वरी तथा अप्रतिचक्रा की प्रतिमाओं में अनतर स्पष्ट करना दुष्कर हो जाता है। कुम्भारिका के शान्तिनाथ मन्दिर एवं विमल वसही के वितान में प्रदर्शित 16 महाविद्यालयों में अप्रतिचक्रा की प्रतिमा भी निर्मित है।[11]

सर्वानुभूति

गूढ़ मण्डप के शिखर में उत्तरी दिशा में निर्मित सिंह वर्ण की रथिका सर्वानुभूति नामक जैन देवता की प्रतिमा स्थापित है।[12] देवता एक लघु पीठिका पर ललितासन मुद्रा में आसीन हैं। महोदर देवता के शीर्ष पर शिखण्डक केश सज्जा के समान मुकुट है। वे बृहदाकार वर्तुल कुण्डल, कण्ठाभरण, यज्ञोपवीत एवं मेखला पहने हैं द्विभुज सर्वानुभूति के दक्षिण कर में चषक एवं वाम कर में नकूलक थैली है। उनके मुख पर स्थित भाव प्रदर्शित है। अपने स्वरूप से वे कुबेर मूर्तियों की प्रतिमूर्ति प्रतीत होते हैं।

जैन ग्रन्थों के अनुसार सर्वानुभूति नेमिनाथ जी के यक्ष हैं तथा नेमिनाथ की प्रतिमाओं के साथ अम्बिका की तथा इनकी मूर्ति निर्तित करने का विधान है। ग्रन्थानुसार धन की थैली, अंकुश एवं पाश से युक्त गजारूढ़ सर्वानुभूति को प्रदर्शित करना चाहिए।[13]

उल्लेखनीय है कि उक्त प्रतिमा में यक्ष को गजारूढ़ न दिखाकर लघु पीठिका पर बैठे हुए दिखाया गया है।[14]

गौरी तथा अन्य तीन महाविद्याएं

मण्डप के शिखर में उत्तर पश्चिमी कोन पर उत्तरी दिशा को और एक रूप पट्टिका में 3 महाविधाओं का अंकन हुआ है। मध्यवर्तीय रथिका में जिन श्रेयांश नाथ की यक्षी मानवी अथवा गौरी एवं उनके दोनों पार्श्व में अन्य दो देवियां हैं। दोनों देवियों के दक्षिण कर में पूर्ण विकसित पद्म तथा वाम कर में पक्षी है।[15] सर्वाभरण अलंकृत तीनों देवियां पूर्ण विकसित पद्म पर ललितासन मुद्रा में आसीन हैं। चतुर्भुज गौरी के दक्षिण करों में वाण तथा अंकुश हैं। जिसके शीर्ष भाग में त्रिकोण निकले हैं। उनके वाम करों में पुस्तक एवं दण्ड अथवा धनुष है, जो खण्डित तीनों देवियों का अंग सौष्ठव दीदारगंज की यक्षी से तुलनीय है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मानवीय या गौरी का वाहन सिंह है तथा दिगम्बर परम्परा के मृगवाहना उत्कीर्ण करने का विधान है। इसमें उनके करों में मुदगर अव्ज, कलश एवं वरद मुद्रा का उल्लेख है।[16] अपराजित पृष्छा में पाश एवं अंकुश दिखाने का विधान है।[17] उपर्युक्त प्रतिमा में दिगम्बर एवं अपराजित पृच्छा दोनों परम्पराओं का आंशिक प्रदर्शन है।[18]

मुख्य मन्दिर तथा देव कुलिकाओं के कर्ण रथिकाओं में जंधा भाग पर अष्ट दिक्पतियों की अनुपम झांकी प्रस्तुत की गयी है। वस्तुतः ओसिया के समस्त मन्दिरों में दिक्पति उपस्थित हैं, परन्तु विवेचित मन्दिर में उनका प्रदर्शन सर्वोत्तम हैं इस दृष्टि से इनका विवरण प्रस्तुत करना उचित होगा।

इन्द्र

पूर्व दिशाधिपति शचीन्द्र की प्रतिमा अपने निश्चित दिशा में अर्थात् दक्षिण पूर्व कोण पर मुख अंकित है। मूल प्रासाद अथवा गर्भ गृह की कर्ण रथिका में वे द्विभुज तथा देवकुलिकाओं में प्रायः चतुर्भुज निर्मित है। गर्भ गृह की प्रतिमा में देवता, हार, कुण्डल (वृत्ताकार) मुकुट कटि की व्याख्या किया है।

स्थानक

अतिभंग मुद्रा में पीठिका पर स्थित है। उनके आँखों पर योग पट्ट उपबद्ध है। दोनों भुजाएं खण्डित हैं। अतः गृहित आयुध का ज्ञान असम्भव है। इन्द्र के दक्षिण पार्श्व में ऐरावत प्रदर्शित है। सुपुष्ट देहवान देवता के मुख पर स्मित भाव विद्यमान है।[19]

अग्नि

मूल प्रासाद में पूर्वी कोण पर दक्षिण पूर्व के दिक्पति अग्नि दक्षिण मुख प्रदर्शित हैं। द्विभुज देवता त्रिभंग मुद्रा में स्थानक प्रदर्शित है। उनका दक्षिण कर अभय मुद्रा में उठा हुआ है तथा वाम कर में कमण्डलु धारण किए है। देवता रूद्राक्ष की माला, कण्कण, कटिमेखला एवं करण्ड मुकुट धारण किये है। उनके पृष्ठ भाग में अग्नि शिखाएं प्रदर्शित हैं। वाहन मेष दक्षिण पार्श्व में पीछे खड़ा है। देवता के मुख पर शान्त भाव विद्यमान है।[20]

यम

मूल प्रासाद के दक्षिणी भित्ती पर दक्षिणी पश्चिमी कोण पर दक्षिण दिशाधिपति यम की प्रतिमा प्रदर्शित है। द्विभुज देवता का दक्षिणी कर खण्डित है तथा वाम कर से जानु पर उत्तरीय का छोर पकड़े है। वे वृत्ताकार कुण्डल ग्रेवेयक कटि मेखला एवं धोती धारण किए हैं। शीर्ष पर मुकुट इन्द्र के समान प्रदर्शित है। वाहन महिष पृष्ठ भाग में दक्षिण पार्श्व में स्थित है। उल्लेखनीय है कि इस मन्दिर में यम की आकृति उतनी भयानक नहीं निर्मित है।[21]

निर्ऋति

मूल प्रसाद के पश्चिम दक्षिण कोण पर (नेऋत्य कोण) पश्चिम मुख दक्षिण पश्चिम के स्वामी निर्ऋति की द्विभुज मूर्ति स्थापित है। देवता अंतिभंग मुद्रा में स्थानक प्रदर्शित है। शीर्ष पर नरमुण्डों की माला मुकुट के समान धारण किए है। कर्णों में लम्बाकार कुण्डल है कटिवस्त्र एवं घुटनों पर योग पट्ट आबद्ध है। शववाहन की खण्डित आकृति अवशिष्ट है। दोनों भुजाएं खण्डित हैं। अतः आयुध विनष्ट हो चुके हैं। उल्लेखनीय है कि यम एवं निर्ऋति की तुलना में निर्ऋति देव की मुख मुद्रा अधिक भयावह प्रदर्शित है। जबकि सर्वत्र यम को विकराल रूप में कला में अंकित करने की प्रथा मिलती है।[22]

देवकुलिओं की अष्ट दिक्पाल प्रतिमाएं

मूल प्रासाद के ही समान पूर्वी एवं पश्चिमी पार्श्ववर्ती सभी देवकुलिकाओं के कर्ण रथिकाओं पर अपने निश्चित स्थान एवं क्रम में अष्ट दिशाधिपति विराजमान है। परन्तु यह सभी चतुर्भुज है तथा उनका अंकन परवर्ती युग के प्रतिमा विधान के अनुरूप हुआ है। प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से मूल प्रासाद के अलंकरण विहीन सादे दिक्पतियों की द्विभुज मूर्तियों की तुलना में यह सभी प्रतिमाएं धना उकेरी से परिपूर्ण हैं। उनके आयुधों का प्रदर्शन विकसित शैली में हुआ है। सभी स्थलों पर चतुर्भुज दिक्पति पद्मपीठिका पर स्थानक त्रिभंग मुद्रक में प्रदर्शित हैं। सभी अपने वाहनों के साथ हैं परन्तु उनके चतुः करों द्वारा गृहित वस्तुओं का वर्णन उल्लेखनीय है। पूर्व दिशा की देवकुलिका सं0–2 में चतुर्भुज इन्द्र के दक्षिणाधः कर वरद मुद्रा में हैं तथा दक्षिणोर्ध्व में वज्र है। वाम दोनों ही खण्डित है। अग्नि देव के दक्षिणोर्ध्व में सुवा है। शेष कर खण्डित हैं। वे लम्बकूर्च जटा भार से युक्त अग्नि शिखाओं से आलोकित बनाए गए हैं। यम के सभी कर खण्डित हैं। मात्र दक्षिण कर द्वारा ग्रहीत खट्वाहुक्का शीर्ष मात्र अवशिष्ट है। पार्श्व में वाहन महिष है। निर्वस्त्र निर्ऋति शवारूढ्द है। उनके वामाधः कर में सरूग है। शेष खण्डित हैं। उल्लेखनीय है कि यम के शीर्ष पर जटाभार जिसमें एक नरमुण्ड अंकित है तथा पूरे सिर में नरमुण्ड की माला भी धारण किए हुए हैं। पश्चिमी कोणाधिपति वानष के की खण्डित है। वायव्य दिशाधिपति वायु के उर्ध्वकरों के ध्वज हैं जो निश्चय ही दसवीं शती की मूर्तियों को प्रमुख तत्व है। इनका दक्षिणाधः कर वरद मुद्रा में है एवं वामाधः में कमण्डल है। सोम दिशाधिपति धनद अपने ऊर्ध्व करों में द्वारा नकूल को अपने स्कन्धों पर उठाए हैं। वामाधः कर थैली लिए हुए यम दक्षिणाधः खण्डित है। ईषाण कोण पर पूर्व मुख स्थापित ईषानदेव

शिव के स्वरूप में प्रदर्शित है। दक्षिणोर्ध्व कर में त्रिशूल तथा वामोर्ध्व कर में चक्र है। अद्यः कर युगल खण्डित हो चुके हैं। मन्दिर संख्या तीन में सभी देवता इसी प्रकार हैं, परन्तु अग्नि के साथ दण्ड पिंगल भी उपस्थित हैं।

पश्चिम दिशा के देव कुलिका में दक्षिणी मन्दिर के सभी देवपति मूर्तियां समान हैं, परन्तु यहाँ कुबेर के साथ वाहन के रूप में गज को अंकित किया गया है। इसी दिशा के उत्तरी देवकुलिका में यद्यपि सभी के आयुध पूर्ववत हैं परन्तु कतिपय भिन्नता भी मिलती है। यथा इसमें अग्नि के दक्षिणार्ध कर में सुवा वामोर्ध्व में पुस्तक एवं वामाकः में टोटीदार कमण्डलु है। यम के दक्षिणाधः में लेखनी वामाधः कर में पुस्तक, दक्षिणोर्ध्व में खड्गवाग एवं दामोर्ध्व में चिड़ियां हैं। निर्ऋति के अल्प करों में खड्ग एवं खप्पर है। अंकः खण्डित हैं। वरनण के दक्षिणोर्ध्व कर में पाश है अन्य खण्डित हैं। वायु के इस स्थल पर चतुःकरों में आयुध सुरक्षित हैं। उनके उर्ध्व करों में ध्वज है।दक्षिणावध ाः में यक्षमाला एवं वामाकः में कमण्डलु है। कुबेर यहाँ भी ऊर्ध्व करों से नकुलक स्कन्धों पर वहन कर रहे हैं। उनका दक्षिणाधः कर कटि पर है एवं वामाधः खण्डित है। ईषान देवता का दक्षिणाधः वरद मुद्रा में एवं अन्य में क्रमशः त्रिशूल, सर्प एवं कमण्डल है। वाहन वृष भी यहाँ सुरक्षित है।

उल्लेखनीय है कि कुबेर के उर्ध्व करों द्वारा वहन करता हुआ नकुलक दसवीं शताब्दी में निर्मित खजुराहो मन्दिर की बहुसंख्यक कुबेर प्रतिमाओं के साथ अंकित किया गया है। इसी प्रकार वायु के ऊर्ध्व करों का ध्वज यम के ईषान से सभी देवताओं के चतुःकरों द्वारा ग्रहित वस्तुएं मूल प्रासाद की दिक्पाल मूर्तियों की तुलना में दसवीं शताब्दी के विकसित स्वरूप को परिलक्षित करते हैं।

इन प्रतिमाओं के प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से स्थल पर उपलब्ध सभी मन्दिरों की दिक्पति मूर्तियों से तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।[23]

मन्दिरों के कर्ण रथिकाओं पर दिक्पति निर्माण के सम्बन्ध में शिल्प शास्त्रों एवं पुराणों में विस्तृत उल्लेख किया गया है। गुप्तकाल से मन्दिर वास्तु का विकास क्रम सुस्पष्ट होता है। इस काल के ग्रन्थों में सर्वप्रथम मन्दिर वास्तु के प्रसंग में इन दिक्पतियों का उल्लेख मिलता है। चौथी शताब्दी के अमर सिंह के अमर कोष में स्पष्टतः इनकी निश्चित दिशा एवं नाम निर्धारित हो गयी है। जयाखक संहिता में मंत्र सूची में दस दिक्पालों, उनके आयुधों के लिए मंत्रोच्चार का विधान बताया गया है।[24] वृहत संहिता[25] के वास्तु विद्याध्ययन के अन्तर्गत वास्तु कुछ पुरूष मण्डल में विभिन्न पादों में देवताओं की स्थिति का निर्देशन आग्नेय, ईशान, नैर्ऋत्य एवं वायव्य कोणों के आध ाार पर किया गया है। अर्थात् दिशाओं का नामकरण उनके अधिपति दिक्पालों के नाम के आधार पर होता था। गुप्तोत्तर युग से तथा पूर्व मध्यकालीन मन्दिरों में दिक्पति प्रतिमाएं अनिवार्य रूप से प्रतिष्ठित की गयी।[26] आयुध के प्रदर्शन में अधिकांशतः रूप मण्डन[27] तथा अपराजित पृच्छा[28] के नियमों के अनुसार हुआ है। जैसे पूर्व वर्णित कुबेर प्रतिमा के साथ गजवाहन का उल्लेख रूप मण्डन में उपलब्ध है।[29]

महावीर मन्दिर ओसिया के निर्माणकाल के विषय में पर्सी ब्राउन भण्डारकर दायरा आदि उद्भर विद्वानों ने अपना मत व्यक्त किया है। प्रा0 हाण्डा ने भी विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है।

पर्सी ब्राउन के अनुसार– It appears to have been first build at rhe end of eight century and then repaired and added to in the tenth century, So that it is a record of development over two periods.

मन्दिर के स्तम्भों की शैली के अन्तर के आधार पर भण्डारकर महोदय ने इसे वत्सराज के शासन काल में निर्मित बताया है।[30] (अर्थात् वि0सं0 1035, 978 ई0) ढाकी महोदय ने स्पष्ट रूप में शिखर का सूक्ष्म अध्ययन करके यही निष्कर्ष निकाला है कि आठवी शती में मूल मंदिर के शिखर का निर्माण हुआ था जिसे जाल शैली एवं अण्डक अलंकरण द्वारा ग्यारहवीं शती में पुनर्निर्मित किया गया। वस्तुतः प्रकण्ड विद्वान कृष्ण देव जी भी इसी मत से सहमत है।[31] ढाकी महोदय ने स्पष्ट रूप में शिखर का सूक्ष्म अध्ययन करके यही निष्कर्ष निकाला है कि आठवीं शती में मूल मंदिर के शिखर का निर्माण हुआ था जिसे जाल शैली एवं अण्डक अलंकरण द्वारा ग्यारहवी शती में पुनर्निमित किया गया। वस्तुतः प्रकण्ड विद्वान कृष्ण देव जी भी इसी मत से सहमत है। इस संदर्भ में लिखा है कि ''जगतपूर्वी उभय मुखी मुखचतुष्की, वालानक, मूल प्रासाद, मुख मण्डक भ्रमास्सी का सभी अंग एक समय बने हैं। यह वही समय था जब जिन्दक के अभिलेख के अनुसार वत्सराज प्रतिहार शासन कर रहा था। यह सभी महामारू शैली के हैं। जिन्दक ने 956 में वालानक का पुर्ननिर्माण कराया था।. .... कुछ काल बाद (एक पीढ़ी) देवकुलिका नं0 5 (उनके द्वारा वर्णित) का निर्माण हुआ जो महामारू शैली का परवर्ती स्वरूप में था। इसके शिखर में जाल एवं पीठ तथा जंघा में ब्याल अलंकरण सभी तत्व दसवीं शदी के अन्तिम चरण को व्यक्त करते हैं। देवकुलिकाओं में दो शैली है व्यवहरत हुयी परन्तु महा गुरजर शैली में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। 1015 ई0 में द्वितीय चरण में तोरण का निर्माण हुआ और इसी काल में मूल प्रासाद का वर्तमान शिखर भी निर्मित किया गया।............ ... इस प्रकार मंदिर निर्माण की प्रक्रिया तीन शताब्दियों तक चलती रही।''[32]

सम्पूर्ण विवेचना के पश्चात् जैन मंदिरों के निर्माण एवं विवेचित जैन मंदिर के सम्बन्ध में कतिपय तथ्य प्रस्तुत करना उचित होगा। ईसा पूर्व की आरम्भिक शताब्दियों में ही उड़िसा के खण्ड गिरी उदयमिरी[33] में जैन यर्हतों के लिए कलिंग राज में गुहा वास्तु का निर्माण प्रारम्भ किया था और वही प्रक्रिया अरया विधि चलती रही। सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्राचीन जैन मंदिरों की संख्या अगणित है। वस्तुतः प्रत्येक ब्राम्हण सम्प्रदाय के मंदिर समूहों के साथ ही जैन सम्प्रदाय के मंदिर भी मिलते हैं। चाहे वे मध्य भारत के विश्वविश्रुत खजुराहों के मंदिर समूह हों या पश्चिमोत्तर क्षेत्र के पर्वतों (आबू पर्वत) में उत्कीर्ण विमल बसही एवं लूण बसही हो अथवा मरूस्थलीय अंचल में अवस्थित प्रतिहार कालीन ओसिया मंदिरों में हों– सर्वत्र जैन मंदिरों की अनुपम छटा ब्राम्हण मंदिरों के संसर्ग में दृष्टिगत होती है।

दूसरा ध्यातव्य तथ्य यह है कि यदि जैन मंदिरों को वास्तुगत विशेषताओं की दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्टतः ब्राम्हण मंदिरों के समरूप ही इनका स्वरूप भी परिलक्षित होता है। अपवाद स्वरूप किन्हीं उदाहरणों में कतिपय विशिष्ट संरचनाएं सम्बद्ध कर दी गयी हैं। उदाहरणार्थ खजुराहो स्थित पूर्वा समूह के जैन मंदिरों में पार्श्वनाथ मंदिर के पश्चिमी दिशा में एक अतिरिक्त चतुष्की संलग्न है

जो वास्तुकार का एक नवीन प्रयोग ही कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जैन मंदिरों के निर्माण में भी वास्तुकारों ने उन्हीं का पालन किया जिनका प्रयोग वे बहुसंख्यक ब्राम्हण सम्प्रदाय के वैष्णव, शैव, सोर एवं गाणपत्य सम्प्रदायों के मंदिरों में कर रहे थे। यद्यपि एक अद्‌भुत तथ्य यह अवश्य उद्‌घाटित होता है कि ब्राम्हण सम्प्रदाय के शाक्त सम्प्रदाय में जोगिन मंदिरों का वास्तुगत स्वरूप पूर्णतः भिन्न होता है। तात्पर्य यह है कि मंदिर के गर्भ गृह में प्रवेश करने पर ही मूल देवता के दर्शन से मंदिर का विशिष्ट सम्प्रदाय से सम्बद्धता का ज्ञान हो पाता है।

मंदिरों के वास्तुगत समानता के साथ ही साथ कतिपय बिन्दुओं पर स्थित अंगों पर अंकित मूर्तियों के चयन में ही दोनों सम्प्रदायों में समानता मिलती है। यथा अष्ट दिक्पाल, नव ग्रह तथा अन्य प्रतिमाएं दोनों स्थलों पर समान रूप में अंकित की गयी हैं। उल्लेखनीय है कि कहीं–कहीं तो अत्यन्त विशिष्ट अंकन भी उपलब्ध होता है। जैसे– शांतिनाथ मंदिर, (खजुराहो), के एक गौण मंदिर के कर्णरथ के बदले उसके द्वार उत्तरंग पर अष्ट दिक्पालों का अंकन किया गया है। ऐसा ही अंकन जरई मठ के मंदिर में भी द्वार पर है (बरवासागर)।

उल्लेखनीय है कि जैन मंदिरों के भित्ति पर नट्टद्वंकित मूर्तियों के चयन में भी जैन प्रतिमाओं के साथ ही साथ ब्राम्हण धर्म के देवी–देवताओं का भरपूर प्रदर्शन हुआ है। दोनों सम्प्रदायों की कलाकृतियों में व्याप्त समानता के मूल में एक सशक्त विचारधारा पैठी थी। प्रायः सभी जैन तीर्थंकर भारतीय समाज के अभिजत्य वर्ग से सम्बद्ध थे। प्रथम तीर्थकर आदिनाथ या ऋषभनाथ भारतीय पौराणिक साहित्य के महत्वपूर्ण व्यक्ति विवेक महाराज "नाभि" की ही संतान थे। इसी प्रकार शान्तिनाथ यदुवंशी पंचवृष्णि वीर बलराम कृष्ण के ही भाई थे। इसी प्रकार भगवान महावीर भी क्षत्रिय थे एवं ब्राम्हण धर्म में आस्था रखने वाले कुल से ही सम्बद्ध थे।

मंदिरों के वास्तुगत साम्य एवं तीर्थंकर के ब्राम्हण सम्प्रदाय से अविच्छित सम्बन्धों के आधार पर यदि जैन सम्प्रदाय को ब्राम्हण सम्प्रदाय की ही एक शाखा कही जाए तो अतिश्योक्ति न होगी। फिर भी कतिपय अन्तर मंदिरों के विशिष्ट अंगों पर उत्कीर्ण मूर्तियों के चयन में मिलता है जो इन मंदिरों की विशिष्ट पहचान बनाते हैं तथा उन्हें ब्राम्हण समूह के मंदिरों से पृथक करते हैं।

संदर्भ :

1 लोक विश्वास के अनुसार ओसिया अपने समृद्धि पूर्ण युग में एक विशाल क्षेत्र में विस्तृत नगर था जिसके अन्न एवं तेज का बाजार 16 मील दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व में स्थित क्रमशः मथानिया एवं ब्यूरी नामक स्थल थे। इतना ही नहीं इस सुसमृद्ध नगर के अनेक द्वारों में से एक मुख्य प्रदेश द्वार पटियाला में था जो वर्तमान समय में ओसिया से 28 मील दक्षिण में स्थित है। भण्डार कर ए0एस0आई0ए0आर0 1908–09 पृ0 100.

2 भण्डारकर आर0एस0ऑफ ई0ए0टि0 (ASJAR) 1908–09, पृ0 100–101.

3 ओझा गो0ही0–हिस्ट्री ऑफ दि जोधपुर स्टेट पृ0–28–29.

4 धुन्दली मल्ल नामक साधु के शिष्यों को ग्रामीणों द्वारा भिक्षा न मिलने पर साधु ने कुपित होकर सम्पूर्ण प्राचीन

''उप्पल दे'' ने अपने शत्रु द्वारा राज्य से निर्वासित किये जाने पर पंडियार (प्रतिहार) वंश के राजा द्वारा इस क्षेत्र में शरण पाया। सम्पूर्ण मारवाड़ में यह प्रतिहार राजा अत्यधिक शक्ति सम्पन्न था।

अतः उसने परमार नरेश को भेलपुर पट्टन के ध्वंसावशेषों में शरण देकर उसकी रक्षा की। यद्यपि उप्पल दे ने इस नव नवसित नगरी को ''नवनेरी नगरी'' की संज्ञा से विभूषित की परन्तु ग्राम ''ओसिया'' भी कहलाया क्योंकि राजकुमार ने वहाँ ''ओस्टा'' लिया था मारवाड़ी भाषा के अनुसार ''ओस्टा'' का अर्थ है शरण पाना–भण्डारकर।

5. भण्डारकर पृ0 100–1001.
6. उल्लेख्य है कि ओसिया प्रवास के समय अनेक विवाहित युगल आते थे एवं शीघ्रता से चढ़ावा चढ़ाकर वापस हो जाते थे तब एक व्यक्ति से इस तथ्य की स्थल पर ही जानकारी उपलब्ध हुई। एक अन्य घटना स्मरणीय है–जोधपुर बस स्टैण्ड पर एक भीड़ ने एक नवयुवती को विक्षिप्तावस्था में अपने केश एवं वस्त्रों को नोचते हुए देखकर पूछा गया तब उसके परिजनों ने बताया कि उसके सिर पर पर माँ का असर है और ओसिया पहुँचकर माता के दर्शन से वह पूर्ण स्वस्थ हो जायेगी ऐसा उनका विश्वास था।
7. जैन प्रतिमा विज्ञान–ले0 मारूतिनन्दन तिवारी पृ0 235–239.
8. निर्वाणफलिका 13.6
9. चतुर्वणा
10. जैन पृष्ठ 184
11. द्रष्टव्य चित्र सं0 9.
12. द्रष्टव्य चित्र सं0 6.
13. जैन प्रतिमा विज्ञान पृ0 212 (फुटनोट सं0 3)।
14. दृष्टव्य चित्र सं0– 6.
15. पक्षी का ऊलस भुवनेश्वर की बहुसंख्यक कार्तिकेय मूर्तियों के वामकर द्वारा गृहित कुवकुट के समान किया गया है।
16. समुद्रगराव्जकलशां वरदां कनक प्रभाम–प्रतिष्ठासारोद्वार (3.165 एवं प्रतिष्ठातिलकम 7.11 पृ0 344)।
17. अपराजित पृच्छा 221425.
18. द्रष्टव्य चित्र सं0 7.
19. द्रष्टव्य चित्र सं0 11.
20. द्रष्टव्य चित्र सं0 12.
21. द्रष्टव्य चित्र सं0 13.
22. द्रष्टव्य चित्र सं0 14.
23. विस्तृत विवेचना के लिए द्रष्टव्य–भारतीय मन्दिर एवं देव मूर्तियां (ओसिया, खजुराहो एवं उड़ीसा के मन्दिरों के विशेष सन्दर्भ में) खण्ड पृ0 70–76 तथा द्रष्टव्य तालिका सं0 (7) कर्ण रथों की दिक्पति मूर्तियां खण्ड 2 पृष्ठ 365–368.
24. जयारव्य सं0 पृ0 35.
25. बृहद संहिता ऐशान्यादि क्रमशो दक्षिण पूर्व निलः कोणे।। 43।। क्र0सं0
26. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य पृ0 66–70 ख–1 वहीं।

27. रूप मण्डन अध्याय–2.
28. अपराजित पृच्छा 213.
29. रूप मण्डल 2/37.
30. पर्सी ब्राउन दण्डियन आर्किटेक्चर 11 एडिसन पृ0 140.
31. सोरम पर प्राप्त अभिलेख है– "सं01033 आषाय सुदी दस आदित्यवारे श्वाति नक्षत्रै भी सीरणम् प्राप्तठापितभिति"
32. ढाकी वहीं पृ0 324–325.

□□

प्राचीन मध्य गांगेय क्षेत्र में मनकों का प्रचलन
एक अध्ययन

डॉ0 सुभाष चन्द्र यादव

पुरास्थलों से प्राप्त मनकों का अस्तित्व अनेक सांस्कृतिक आयामों का संकेत है, यथा–सौन्दर्य–बोध, कलात्मक अभिरूचि, धार्मिक विश्वास व्यापारिक सम्बन्ध, आर्थिक दशा एवं तकनीकी कुशलता इत्यादि। अनेक प्रकार के अर्ध–मूल्यवान पत्थर, अस्थि धातु तथा पकाई गयी मिट्टी से निर्मित विभिन्न आकृति के मनके मध्य–गांगेय क्षेत्र के पुरास्थलों से प्रचुर संख्या में प्राप्त होते हैं। इनका समीक्षात्मक अध्ययन प्राचीन संस्कृतियों की अर्थव्यवस्था एवं व्यापारिक गतिविधियों के आंकलन में विशेष सहायक हो सकता है। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के अवशेषों पर आधारित प्रस्तुत शोध–पत्र में मनकों की ऐसी ही समीक्षा की गयी है। मध्य गांगेय क्षेत्र में स्थित तीन प्रमुख पुरास्थल राजघाट (नारायन, ए.के. एवं पी. सिंह, 1977), श्रावस्ती (सिन्हा, के.के. 1667) एवं वैशाली (देव कृष्ण एवं वी0 मिश्रा, 1961; सिंन्हा, बी.पी एवं सीताराम राय, 1969) जो प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में न केवल नगर राजधानी थे (पाण्डेय, राज़बली, 1994:108–109) अपितु प्रमुख व्यापारिक मार्गों (मोतीचन्द्र, 1966:51–52) पर भी स्थित थे, से प्राप्त मनकों का अध्ययन उनके निर्माण माध्यम तथा आकृति के आधार पर तीन चरणों में विभाजित कर किया गया है–

1. प्राकृ–उ.कृ.मा.मृ. चरण,
2. प्रारम्भिक उ.कृ.मा.मृ. चरण तथा
3. मध्य एवं उत्तरवर्ती उ.कृ.मा.मृ. चरण।

प्राक्–उ.कृ.मा.मृ. चरण के अवशेष रजघाट। ए.वैशाली (1969) के। काल से प्राप्त हुए हैं। इस चरण में मनका निर्माण हेतु प्रयुक्त माध्यम संख्या मं सीमित है। केवल पाँच माध्यम का प्रयोग किया गया है। राजघाट से सभी माध्यमों–पकाई गयी मिट्टी, अस्थि, भीष्ममणि (Crystal) लाजवर्द तथा पेस्ट से बने मनके प्राप्त हुए हैं, जबकि वैशाली में इस चरण में मनकों का अभाव है । इस चरण में मनका बनाने हेतु अधिकांशतः स्थानीय माध्यम ही प्रयोग में लाये गये हैं परन्त लाजवर्द के मनके की प्राप्ति महत्वपूर्ण है (नारायन, ए.के. एवं पी. सिंह, 1977:44)।

उपर्युक्त चरण से लगभग ग्यारह विभिन्न आकृति के मनके प्राप्त हुए हैं। घटाकार, सुपारी की आकृति के मनके (फ्राँसिस, पीटर, 1981:95–798) पकाई गयी मिट्टी से बने हैं, भीष्ममणि के गोल मनके, लाजवर्द के बेलनाकार, अस्थि निर्मित गोलाकार चिपटे तथा पेस्ट से बने वर्तुलाकार व बेलनाकार मनके प्रमुख हैं। सुपारी की आकृति के मनके काले व धूसर रंग के तथा सामान्यतः लेप विहीन हैं पर कुछ मनकों पर काले रंग का लेप लगाया गया है (नारायन, ए.के. एवं पी. सिंह, 1977:47)। घटाकर मनके चमकदार लाल रंग के हैं।

उत्खनन एवं सर्वेक्षण अधिकारी, उ.प्र. रा.पु. विभाग, वाराणसी मण्डल, वाराणसी

प्रारम्भिक उ.कृ.मा.मृ. चरण के अवशेष राजघाट I बी. श्रावस्ती–I तथा वैशाली (1969)–II (प्रारम्भिक व मध्य स्तर), वैशाली (1961)–I काल से प्राप्त हुए हैं। इस चरण में मनका प्रचलित सभी माध्यम इस चरण में भी प्रयोग में बने रहे केवल पेस्ट से बने मनकों का अभाव है। अकीक, जमुनिया पत्थर, सिक्थ स्फटिक, मूँगा, ताँबा, काँच, सूर्यकान्त, पुखराज, प्रकवच तथा इन्द्रगोप का प्रयोग मनका निर्माण हेतु इस चरण में प्रथम बार किया गया। इस चरण में लाजवर्द से बना मनका केवल श्रावस्ती (सिन्हा, के.के. 1967:63) से प्राप्त है, पुखराज का मनका राजघाट (नारायन, ए.के. एवं पी. सिंह, 1977:50), प्रकवच का मनका वैशाली (सिन्हा, बी.पी. एवं सीताराम राय, 1969:172–90) से प्राप्त हुआ है।

आकृति की दृष्टि से इस चरण में पूर्ववर्ती चरण की तुलना में लगभग दोगुना आकृति के मनके प्राप्त हुए हैं। प्रथम चरण की आकृतियों का प्रचलन इस चरण में निरन्तर बना रहा। अनेक नवीन आकृति के मनके इस चरण में प्रथम बार दिखाई देते हैं, जैसे–उभयोत्तल, लम्बे गोल, ढोलाकार, उभयोत्तल गोल, लम्बे चौकोर बेलनाकार, गोल बेलनाकार, द्विशंकु–समतलोत्तल, द्वि–षड्भुजाकार, लम्बे ढोलाकार–षड्भुजाकार, द्विशंकु–षड्भुजाकार, खंजर की आकृति आदि। पकाई गई मिट्टी से बने मनकों में घटाकार तथा सुपारी के आकार के मनकों की बहुलता है, गोल बेलनाकार मनके अस्थि, सिक्थ, स्फटिक, ताँबा, मूँगा, काँच, सूर्यकान्त आदि माध्यमों से बने हैं। वर्तुलाकार मनके अस्थि, काँच, मूँगा, षड्भुजाकार मनके जमुनिया पत्थर, स्फटिक तथा सूर्यकान्त पत्थर से बनाये गये हैं। पुखराज का द्वि–शंकु समतलोत्तल (Phano-conux becone) आकृति का मनका महत्त्वपूर्ण है। हूबहू इसी आकृति का मनका तक्षशिला (बेक, एच.सी., 1991:15–16) से प्राप्त हुआ है। अकीक तथा स्तरित काँच से बने चक्ष्वाकार मनकों का साक्ष्य इस चरण की कलात्मकता तथा तकनीकी–कौशल का संकेतक है (सिन्हा, के.के. 1967:62–66)। लाजवर्द से बना पंचभुजीय बेलनाकार मनका भी महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

मध्य एवं उत्तरवर्ती उ.कृ.मा.मृ. चरण के प्रमाण राजघाट I सी व II, श्रावस्ती–II वैशाली (1961) I बी. व II, वैशाली (1969)–II (उत्तरवर्ती स्तर) व III (प्रारम्भिक व मध्य) से प्राप्त हुए हैं। इस चरण में मनका निर्माण हेतु बाइस माध्यम प्रयोग में लाये गये। पूर्व प्रचलित सभी माध्यमों के अतिरिक्त फेयांस, चकमक, संगमरमर, दूधिया, पत्थर, सेलखड़ी, चूना पत्थर तथा हाथी दाँत का प्रयोग मनका बनाने हेतु इस चरण में किया गया है नव प्रयुक्त माध्यमों से फेयांस हाथी दात राजघाट से संगमरमर, दूधिया पत्थर, सेलखड़ी तथा चूना–पत्थर के साक्ष्य वैशाली से प्राप्त हुए हैं।

आकृति की दृष्टि से भी यह चरण अत्यन्त समृद्ध दिखाई पड़ता है। लगभग 45 आकृति के मनके इस चरण से प्राप्त हुए हैं। गोल, वर्तुलाकार, कुण्डलाकार, बेलनाकार, ढोलाकार, वर्गाकार, आयताकार, घनाकार, त्रिभुजाकार, पंचभुजीय षड्भुजीय, शंक्वाकार, नतोदर, उन्नतोदर, पर्णाकार

(Leaf-Shaped), स्पेसर, आमलक की आकृति के अत्यन्त कलात्मक मनके इस चरण से प्राप्त होते हैं। आमलक की आकृति, स्पेसर, लीच–शेप्ड, पर्णाकार, पिरामिडाकार, घनाकार, लघु गोल बेलनाकार, घुमावदार, पंचभुजीय आकृति के मनके इस चरण में प्रथम बार दृष्टिगोचर होते हैं।

विकास के इस चरण में पकी मिट्टी के गोल व आमलक आकृति के मनके, अकीक तथा काँच के खचित ढोलाकार (Etched long barrel) ,लीच शेप्ड (Leech Shaped), इन्द्रगोप के पिरामिडाकार व द्वि–छिद्रित–अर्द्धचन्द्रकार, भीष्ममणि के पंचभुजीय, द्वि–शंक्वाकार, प्रकवच के चौकोर बेलनाकार काँच के घनाकार, गोल, आकृति के मनके प्रथम बार इस चरण में प्राप्त होते हैं।

प्राक् उ.कृ.मा.मृ. चरण से मनका निर्माण में प्रयुक्त माध्यम तथा सीमित आकृति के साक्ष्य मध्य गांगेय क्षेत्र की संस्कृति में नगरीय विशेषताओं के अभाव के प्रमाण माने जा सकते हैं। इस चरण में केवल राजघाट से सीमित माध्यम से बने मनके क्षेत्रीय विविधता व परस्पर सम्पर्क की कमी की तरफ भी संकेत करते हैं, परन्तु लाजवर्द (आल्चिन, एफ.आर. एव. एन. हेमण्ड 1948:34–35) के मनके की प्राप्ति को मध्य एशिया के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पकाई गयी मिट्टी से बने घटाकार व सुपारी के आकार के मनके इस चरण में सर्वाधिक प्रचलन में थे।

सूची–1

क्र.स.	माध्यम	प्राक् उ.कृ.मा.मृ. चरण	प्रारम्भिक उ.कृ.मा.मृ. चरण	प्रारम्भिक उ.कृमा.मृ चरण
1.	पकी मिट्टी (TERRACOTTA)	✓	✓	✓
2.	अस्थि, श्रंग (BONE, HORN)	✓	✓	✓
3.	स्फटिक (QUARTZ)	✓	✓	✓
4.	लाजवर्द (LAPIS-LAZULI)	✓	✓	✓
5.	अकीक (AMETHYST)	–	✓	✓
6.	जमुनिया पत्थर (AMETHYST)	–	✓	✓
7.	सिक्थ स्फटिक (CHALCEDONY)	–	✓	✓
8.	मूँगा (CORAL)	–	✓	✓
9.	ताम्र (COPPER)	–	✓	✓
10.	काँच (GLASS)	–	✓	✓
11.	सूर्यकान्त (JAPXSPER)	–	✓	✓
12.	पुखराज (TOPAZ)	–	✓	✓

13.	प्रकवच (SHELL)	–	✓	✓
14.	इन्द्रगोप (CARNELTAN)	–	✓	✓
15.	काँच की मिट्‌टी (काचाभ)	–	–	✓
16.	चकमक (CHERT)	–	–	✓
17.	संगमरमर (MARBEL)	–	–	✓
18.	दूधिया पत्थर (OPAL)	–	–	✓
19.	सेलखड़ी (STEATITE OR SOAP-STONE)	–	–	✓
20.	चूना–पत्थर (LIME STONE)	–	–	✓
21.	हाथी दाँत (IVORY)	–	–	✓
22.	भीष्ममणि (CRYSTAL)	–	–	✓
	योग	05	14	22

सूची–2
प्राक् उ.कृ.मा.मृ. चरण

क्र.स.	माध्यम	पुरास्थल		
		राजघाट	वैशाली (1961)	वैशाली (1967)
1	पकी मिट्‌टी	✓	–	–
2	अस्थि	✓	–	–
3	भीष्मणि	✓	–	–
4	लाजवर्द	✓	–	–
5	पेस्ट	✓	–	–

सूची–3
प्रारम्भिक उ.कृ.मा.मृ. चरण

क्र.स.	माध्यम	पुरास्थल		
		राजघाट	वैशाली (1961)	वैशाली (1967)
1.	अकीक	✓	✓	✓
2.	सिक्थ स्फटिक	?	✓	✓
3.	अस्थि	✓	--	✓
4.	जमुनिय	✓	--	✓
5.	ताम्र	✓	✓	✓
6.	मूँगा	?	--	✓
7.	भीष्ममणि	?	--	✓
8.	काँच	✓	✓	--
9.	सूर्यकान्त	✓	✓	✓
10.	पुखराज	✓	—	—
11.	इन्द्रगोप	✓	✓	✓
12.	लाजवर्द	✓	✓	--
13.	चकमक	✓	—	—
14.	पकी मिट्टी	✓	✓	✓
15.	जमुनिया पत्थर	—	✓	—
16.	चूना पत्थर	—	✓	—
17.	ताम्र	—	✓	—
18.	पुखराज	—	—	—
19.	संगमरमर	—	—	—
20.	सेलखड़ी	—	—	—
21.	दुधिया पत्थर	—	—	—

सूची–4

क्र.स.	माध्यम	पुरास्थल			
		राजघाट	श्रावस्ती	वैशाली (1961)	वैशाली (1967)
1	अकीक	✓	✓	✓	✓
2	अस्थि	✓	✓	–	✓
3	इन्द्रगोप	✓	✓	✓	✓
4	सिक्थ स्फटिक	✓	–	–	✓
5	चकमक	✓	–	–	✓
6	मूँगा	✓	–	✓	✓
7	भीष्ममणि (क्रिस्टल)	✓	✓	–	✓
8	चीनी मिट्टी (फेयांस)	✓	–	✓	–
9	काँच	✓	✓	–	✓
10	हाथी दाँत	✓	–	–	–
11	सूर्यकान्त	✓	–	–	✓
12	लाजवर्द	✓	–	–	–
13	स्फटिक	✓	✓	–	✓
14	प्रकवच (Shell)	✓	✓	✓	–
15	पकी मिट्टी	✓	✓	✓	✓

प्रारम्भिक उ.कृ.मा.मृ. चरण से मनका निर्माण हेतु माध्यम तथा आकृति में अभूतपर्व वृद्धि के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। जमुनिया पत्थर, सिक्थ स्फटिक, मूंगा, सूर्यकान्त, पुखराज, इन्द्रगोप जैसे अर्द्ध मूल्यवान पत्थरों का प्रयोग आर्थिक समृद्धि तथा व्यापरिक गतिविधियों में वृद्धि (सिंह, बी.पी. 1985:152) की तरफ संकेत करते हैं। ताम्र तथा विभिन्न रंग के काँच से बने मनके तकनीकी–कौशल का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। स्तरीकृत काँच के चक्ष्वाकार मनके तक्षशिला (बेक, एच.सी. 1991:11–13) से भी प्राप्त हुए। राजघाट से प्राप्त पुखराज का मनका भी आर्थिक समृद्धि का महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जा सकता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि यह चरण बौद्ध धर्म के उद्‌भव और विस्तार (पाण्डे, गोविन्द चन्द्र 1990:54–56) से भी सम्बद्ध है। बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ परस्पर सम्पर्क बढ़ा जिससे व्यापारिक गतिविधियों को भी बढ़ावा मिला होगा, परिमाणतः समृद्धि की ओर अग्रसर अर्थव्यवस्था व तकनीकी विकास ने अनेक प्रकार के माध्यमों से विभिन्न आकृति के मनकों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया होगा।

मध्य तथा उत्तरवर्ती उ.कृ.मा.मृ. चरण से भी मनका निर्माण के माध्यम और आकृति में निरन्तर वृद्धि के साक्ष्य होते हैं। इस निरन्तर वृद्धि को सामाजिक स्तरीकरण, आर्थिक समृद्धि, तकीकी विकास तथा व्यापारिक सम्बन्धों में विकास का सूचक माना जा सकता है। आमलक, स्पेसर, लीच शेप्ड, पर्णाकार, पिरमिडाकार, घनाकार, मनके न सिर्फ अर्द्ध मूल्यवान पत्थरों से वरन् पकी मिट्‌टी, काँच, फेयांस, अस्थि, चूना–पत्थर, अकीक व इन्द्रगोप जैसे बहुसुलभ माध्यमों से भी बनने लगे थे, जो सम्भवतः सामान्य जन की अभिलाषा पूर्ति में सहायक साक्ष्य (देव, एस.बी 2002:2) माने जा सकते हैं। अकीक से बने खचित (Etcged) पट्‌टी, बिन्दु, चक्षु आदि अभिप्राय से अलंकृत मनके जा इस चरण की विशेषता माने जाते (निहारिका, 1993:255–256) हैं, उत्कृष्ट तकनीकी का सक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। शिल्प की दृष्टि से इस चरण में हाथी दाँत के मनकों (नारायण, ए.के. एवं पी. सिंह 1977:43) की प्राप्ति विशेष उल्लेखनीय है। ज्ञातव्य है कि यह चरण मगध साम्राज्य की स्थापना तथा विस्तार (पाण्डेय, राजबली 1994:148–8) से भी सम्बद्ध है। सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना से व्यापार–वाणिज्य के विकास को नई दिशा मिली तथा अनेक प्रकार के कला–शिल्प को राजकीय संरक्षण व प्रोत्साहन मिला (कांगले, आर.पी. 1992:90–100)

सम्भवतः इस संरक्षण व प्रोत्साहन ने इस चरण के शिल्पकार को समाज के प्रत्येक वर्ग की अभिलाषा व मांग को ध्यान में रखते हुए अनेक प्रकार के माध्यमों से विभिन्न आकृति के मनकों के निर्माण हेतु प्रोत्साहन किया होगा। परिमाणतः विविधता कलात्मक मनकों के निर्माण का साक्ष्य इस चरण में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य गांगेय क्षेत्र से प्राप्त मनके संस्कृतियों के विकास में सहायक विभिन्न कारकों की तरफ संकेत करते हैं। यथा– आर्थिक समृद्धि, व्यापारिक सम्बन्ध व सामाजिक स्तरीकरण, तकनीकी विकास, किंचित मात्र तथा राजनीतिक प्रभाव आदि।

सन्दर्भ :–

1. नारायन, ए.के. पुरुषोत्तम सिंह 1977 एक्सवेसंस ऐट राजघाट (1957–58, 1960–65) भाग–तीन, स्माल फाइण्ड्स काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
2. सिन्हा, के.के. 1967 एक्सवेसंस एंट श्रावस्ती–1959 मोनोग्राफ नं. 2 प्रा.भा.इ. एवं संस्कृति विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
3. देव, कृष्ण एण्ड विजयकान्त मिश्र 1961 वैशाली एक्सवेसंस : 1950, वैशाली संघ, वैशाली बिहार।
4. सिन्हा, बी.पी. एण्ड सीताराम राय 1959 वैशाली एक्सवेसंस : 1958–62, पटना, डाइरेक्टर ऑफ आर्कियोलॉजी एण्ड म्यूजियम्स, बिहार।
5. पाण्डेय, राजबली 1994 प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. मोतीचन्द्र 1966 सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ–पद्धति), बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना।
7. फ्रांसिस, पीटर 1981 'दी एरिका–नट आब्जेक्ट' इज इट ए बीड? पुरातत्व, नं. 10, बुलेटिन ऑफ दी इण्डियन आर्कियोलॉजिकल सोसाइटी, (संपा0) के.एन. दीक्षित, इण्डियन आर्कियोलॉजिकल सोसाइटी, पुराना किला, नई दिल्ली।
8. बेक, हेरेक, सी. 1991 (पुनर्मुद्रित) 'द बीड फ्राम तक्षशिला' मेमायर्स ऑफ इण्डिया, नं0 65, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया।
9. आल्विन, एफ.आर एण्ड नार्मन हेमण्ड 1978 दी आर्कियोलॉजिकल ऑफ अफगानिस्तान फ्राम अर्लीएस्ट टाइम्स टू द दीमुरीड पिरीएड।
10. सिंह वीरेन्द्र प्रताप 1985 लाइफ इनद एन्सिएन्ट, वाराणसी (एन एकाउण्ट बेस्ड ऑन आर्कियोलॉजिकल एव्डिेन्स) संदीप प्रकाशन दिल्ली।
11. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र 1990 : (तृतीय संस्करण) बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
12. देव शान्ताराम भाचन्द्र 2000 : इण्डियन वीड्स ए कल्चरल एण्ड टेक्नालॉजिकल स्टडी, डेकन कालेज पोस्ट–ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूणे।
13. निहारिका 1993 ए स्टडी ऑफ स्टोन बीड्स इन एन्सिएण्ट इण्डिया, भारतीय कला प्रकाशन, सावन पार्क, दिल्ली।
14. कांगले, आर.पी. 1002 (पुनर्मुद्रित) द कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग–दो, मोतीलाल बनारसीदास, लखनऊ

□□

एलोरा की जैन मूर्तियों का शिल्पशास्त्रीय वैशिष्ट्य

डॉ0 आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव

राष्ट्रीय महत्त्व का स्मारक एलोरा महाराष्ट्र प्रान्त के औरंगाबाद जिले में स्थित है। एलोरा के एक विश्व प्रसिद्ध कला केन्द्र के रूप में विकसित होने की पृष्ठभूमि में शासकीय समर्थन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ कल्चुरि, वाकाटाक, चालुक्य, राष्ट्रकूट, एवं देवगिरि के यादवों के संरक्षण में छठीं से तेरहवीं शती ई0 के मध्य कुल 34 गुफाएँ उत्कीर्ण हुई[1] जिनमें राष्ट्रकूटों के समय (सातवीं से दसवीं शती ई0) का निर्माण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सभी प्रमुख भारतीय धर्मों (ब्राम्हण–बौद्ध–जैन) की यह कला–त्रिवेणी बहुत अनोखी उतरी है। बौद्ध धर्म की गुफाओं (संख्या 1 से 12) के साथ सटी ब्राम्हण धर्म की गुफाएँ (संख्या 13 से 29) और उसके बाद जैन धर्म की गुफाएँ (संख्या 30 से 34) हैं। इनके एक साथ होने के कारण दर्शकों एवं शोध प्रज्ञों को यहाँ तुलनात्मक विवेचन का स्पष्ट आधार भी मिल जाता है।[2]

जैन गुफाओं (गुफा क्रम संख्या 30 से 34) एवं मूर्तियों का निर्माण तथा चित्रांकन मुख्यतः 9वीं से 11वीं शती ई0 के मध्य हुआ है। ये कलावशेष दिगंबर परम्परा से सम्बद्ध हैं। जैन गुफाओं में छोटा कैलाश (गुफा संख्या 30), इन्द्रसभा (गुफा संख्या 32) व जगन्नाथ सभा (गुफा संख्या 33) स्थापत्य और मूर्तिशिल्प की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन्द्रसभा के ऊपरी तल में इन्द्र तथा अम्बिका की भव्य प्रतिमा बरबस आकृष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ, बाहुबली, महावीर आदि जैन तीर्थकरों की प्रतिमाएं उत्कृष्ट हैं। यहाँ का जैन भित्ति चित्र, भित्ति चित्र कला के इतिहास में एक अनमोल कड़ी है।[3] एलोरा के जैन मन्दिर इन्द्रसभा में 9वीं से 10वीं शती ई0 में तीर्थंकर मूर्तियों को बनवाने वाले सोहिल ब्रम्हचारी और नागवर्म्मा के नाम भी अंकित हैं। एलोरा की जैन गुफाओं में जैनों के सर्वोच्च आराध्यदेव तीर्थकरों (या जिनों) का अंकन हुआ है। 24 जिनों में से आदिनाथ (प्रथम), शान्तिनाथ (16वें), पार्श्वनाथ (23वें) एवं महावीर (24वें) की सर्वाधिक मूर्तियां हैं। साथ ही ऋषभनाथ के पत्र बाहुबली गोम्मदेश्वर यक्ष और यक्षियों की भी पर्याप्त आकृतियाँ हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में गोम्मटेश्वर की मूर्तियां विशेष लोकप्रिय थी और एलोरा में उनकी सर्वाधिक मूर्तियां बनी। एलोरा में बाहुबली की कुल 16 मूर्तियां हैं। किसी भी पुरास्थल पर पायी जाने वाली मूर्तियों की संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक हैं।[4] 24 तीर्थंकरों का सामूहिक अंकन भी उत्कीर्ण है। जिनों में सात सर्पकरणों के छत्र वाले पार्श्वनाथ की मूर्तियां सर्वाधिक लोकप्रिय थीं। एलोरा की जैन मूर्तियों में छत्र, सिंहासन, उपासकों, प्रभामण्डल जैसे प्रातिहार्यों, लांछनों एवं शासन देवताओं का अंकन हुआ है।[5]

एलोरा की जैन गुफाओं का निर्माण अधिकतर राष्ट्रकूट नृपतियों के राज्यकाल में हुआ है। देवगिरि से प्राप्त अभिलेखों से यह पता चलता है कि राष्ट्रकूटों के बाद एलोरा की गुफाओं के निर्माण में देवगिरि के यादवों ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिनका शासनकाल दसवीं शती ई0

कला–इतिहास विभाग कला–संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी–221005 (उ0प्र0)

तक रहा। इन्हीं के समय में एलोरा की अधिकांश जैन गुफाएं खोदी गई।[6] एलोरा की जैन मूर्तियां अधिकतर उन्नत उकेरी में हैं।

एलोरा की जैन मूर्तियों में तीर्थंकरों के वक्षस्थल में श्रीवस्त के अंकन की परिपाटी उत्तर भारत के समान प्रचलित नहीं थी। समकालीन पूर्वी चालुक्यों की जैन मूर्तियों में भी यह चिन्ह नहीं मिलता। साथ ही अष्ट महा प्रतिहार्यों में से सभी का अंकन भी यहाँ नहीं हुआ है। केवल त्रिछत्र अशोकवृक्ष, सिंहासन, प्रभामण्डल, चाँवरधर सेवक एवं मालाधरों का ही नियमित अंकन हुआ है। शासन देवताओं में कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष तथा चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं सिद्धायिका यक्षियां सर्वाधिक लोकप्रिय थी।[7] जिनों के साथ यक्ष–यक्षियों का सिंहासन छोरों छोरों पर नियमित अंकन हुआ है। दिगम्बर परम्परा में महापुराण की रचना राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम (लगभग 819 से 881 ई0) के शासन काल एवं क्षेत्र में हुई, अतः महापुराण की कलापरक सामग्री का स्पष्टतः समकालीन राष्ट्रकूट कला केन्द एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र) की जैन गुफाओं (गुफा संख्या 30 से 34) की मूर्तियों की शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्टभूमि की दृष्टि से विशेष महत्व हैं। ज्ञातव्य है कि महापुराण एवं एलोरा की जैन गुफाएं समकालीन (9वीं से 10वीं शती ई0) और दिगम्बर परम्पर से सम्बद्ध है जिससे महापुराण की कलापरक सामग्री के एलोरा की जैन गुफाओं की मूर्तियों की दृष्टि से तुलना का महत्व और भी बढ़ जाता है।[8] जैन पुराणों में महापुराण सर्वाधिक लोकप्रिय था जो_आदिपुराण और पुराण इन दो खण्डों मे विभक्त है। आदिपुराण की रचना जिनसेन ने लगभग 9वीं शती ई0 के मध्य और उत्तर पुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र ने 9 वीं शती ई0 के अन्त या 10वीं ई0 के प्रारम्भ में की थी। कलापरक अध्ययन की दृष्टि से आदिपुराण एवं उत्तर पुराण अर्थात् महापुराण (दिगम्बर परम्परा) की सामग्री का विशेष महत्व है क्योंकि उनका रचना काल (9वीं से 10वीं शती ई0) तीर्थकरों सहित अन्य शलाका पुरूषों (जैन देव कुल के 24 तीर्थंकरों तथा 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण सहित कुल तिरसठ) तथा जैन देवों के स्वरूप या लक्षण निर्धारण का काल था। इन ग्रन्थों की रचना के बाद ही श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में विभिन्न शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना के बाद ही श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में विभिन्न शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें जैन आराध्य देवों के प्रतिमा लक्षण का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया।[9] एलोरा में 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और गहन साधना के प्रतीक ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली की सर्वाधिक मूर्तियां उकेरी हैं। एलोरा की बाहुबली मूर्तियां में उनके शरीर से लिपटा माधवी एवं सर्प, वृश्चिक, छिपकली तथा मृग जैसे जीव–जन्तुओं का शरीर पर या समीप ही विचरण करते हुए और पार्श्वनाथ की मूर्तियों में शंबर (या कमठ या मेघमाली) के विस्तृत उपसर्गों के अंकन स्पष्टतः महापुराण के विवरणों से निर्दिष्ट हैं।[10]

महापुराण में 24 तीर्थंकरों में ऋषभनाथ को सर्वाधिक महत्व दिया गया, जिनके बाद पार्श्वनाथ और तत्पश्चात् नेमिनाथ और महावीर का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। अन्य तीर्थंकरों की चर्चा संक्षेप में की गयी है। तीर्थंकरों के सन्दर्भ में मुख्यतः पंच कल्याणकों (च्यवन, जन्म दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण) एवं ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और महावीर के सन्दर्भ में उनके जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है।

उत्तर भारत में ऋषभनाथ की सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियां बनीं। ऋषभनाथ के बाद क्रमशः पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ की मूर्तियां उकेरी गयीं किन्तु दक्षिण भारत में पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूर्तियां उत्कीर्ण की गयी। एलोरा जैसे पुरास्थल में पार्श्वनाथ की कुल 31 मूर्तियां मिली हैं, जिनमें 9 ध्यान मुद्रा में शेष कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं।[11] दक्षिण भारत में पार्श्वनाथ की तुलना में ऋषभनाथ की मूर्तियों नगण्य हैं। ऋषभनाथ से सम्बन्धित स्वतन्त्र आदिपुराण की रचना का पृष्ठभूमि में एलोरा में ऋषभनाथ की केवल पाँच मूर्तियों का मिलना सर्वथा आश्चर्यजनक है। दूसरी ओर पार्श्वनाथ की एलोरा में 30 से अधिक स्वतन्त्र मूर्तियां देखी जा सकती हैं।[12] एलोरा की गुफा 33 की पार्श्वनाथ की मूर्ति (11वीं शती ई0) में बांयी ओर मेघमाली के उपसर्ग भी चित्रित हैं। दाहिने पार्श्व में छत्रधारिणी पद्मावती है।[13]

एलोरा में पार्श्वनाथ के बाद महावीर की ही सर्वाधिक मूर्तियां हैं, जिनके कुल 12 उदाहरण मिले हैं। एलोरा की जैन गुफाओं (30, 31, 32, 33, 34) में भी महावीर की कई मूर्तियाँ (11वीं से 11वीं शती ई0) हैं।[14] इनमें महावीर ध्यान मुद्रा में विराजमान हैं और उनके यक्ष–यक्षी के रूप में गजारूढ़ सर्वानुभूति एवं सिंहवाहनी अम्बिका निरूपित हैं। पार्श्वनाथ, महावीर और ऋषभनाथ के अतिरिक्त अजितनाथ, सुपार्श्वनाथ और नेमिनाथ की भी एक से तीन मूर्तियां देखी जा सकती हैं। एलोरा की तीर्थंकर मूर्तियों में केवल पार्श्वनाथ के साथ शंबर द्वारा उपस्थित किये गये विभिन्न उपसर्गों का विस्तृत अंकन मिलता है। महावीर के साथ पारम्परिक यक्ष–यक्षी, मातंग व सिद्धाायिका के स्थान पर नेमिनाथ के यक्ष–यक्षी कुबेर (या सर्वानुभूति) और अम्बिका निरूपित हैं। जो स्पष्टतः पश्चिम भारत के श्वेताम्बर मूर्ति परम्परा का प्रभाव है जहाँ लगभग सभी तीर्थंकरों के साथ यक्षी–यक्षी के रूप में कुबेर और अम्बिका ही आमूर्तित हैं।[15]

एलोरा एवं 9वीं से 10वीं शती ई0 की दिगम्बर परम्परा की अन्यत्र की तीर्थंकर मूर्तियों में महापुराण के उल्लेख के अनुरूप सिंहासन, प्रभामण्डल, त्रिछत्र, चैत्यवृक्ष (या अशोक वृक्ष), देव दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्य ध्वनि, चामर धारी सेवक जैसे अष्ट प्रतिहार्यों को दिखाया गया है। आदिपुराण में तीर्थकर मूर्तियों में दिखाये जाने वाले अष्ट प्रतिहार्यों का सर्वाधिक विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। एलोरा की पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियों में किसी प्रतिहार्य का न दिखाया जाना शिल्पी की सूझ का सूचक एवं उत्तर पुराण के विवरणों के सर्वथा अनुरूप हैं। दूसरी ओर पार्श्वनाथ की ध यानस्थ मूर्तियाँ उनके तीर्थंकर पद प्राप्त करने के उपरान्त की स्थिति को अभिव्यक्त करती हैं। एलोरा की कायोत्सर्ग मूर्तियों में पार्श्वनाथ की तपस्या में उपस्थित किये गये तरह–तरह के उपसर्गों का प्रसंग दिखाया गया है। ये उपसर्ग स्पष्टतः कैवल्य प्राप्ति के पूर्व की स्थिति का अंकन हैं। इसी कारण पार्श्वनाथ की उपसर्ग मूर्तियों में अष्ट प्रतिहार्यों को नहीं दिखाया. गया है। इस सन्दर्भ में एक और उल्लेखनीय बात एलोरा की जैन गुफाओं में पार्श्वनाथ की उपसर्ग मूर्तियों के एक नियत स्थान पर उत्कीर्णन से सम्बन्धित है। पार्श्वनाथ की सभी उपसर्ग मूर्तियां कठिन तपश्चर्या में लीन बाहुबली की मूर्ति के सामने उत्कीर्ण हैं। स्मरणीय है कि पार्श्व जहाँ शंबर के विभिन्न उपसर्गों के शान्त भाव से विचलित हुए बिना सहते रहे वहीं बाहुबली भी अपनी साधना में इस सीमा तक रमे कि शरीर से

लिपटी माधवी और शरीर पर सर्प, वृश्चिक जैसे जन्तुओं की उपस्थिति से वे सर्वथा अप्रभावित और ध्यानमग्न रहे। यहाँ यह भी उल्लेख है कि राष्ट्रकूट शिल्पी ने पार्श्वनाथ की उपसर्ग और बाहुबली की साधनारत मूर्तियों के आमने–सामने उत्कीर्णन की परम्परा को पूर्ववर्ती चालुक्य कला से प्राप्त किया था, जिसके उदाहरण बादामी की गुफा सं0 4 और अयहोल की जैन गुफा (लगभग 6वीं शती ई0) में देखे जा सकते हैं।[16]

एलोरा की जैन गुफाओं में तीन प्रमुख जैन यक्षियों चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं पद्मावती तथा कुबेर यक्ष की स्वतन्त्र एवं जिन संयुक्त मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। चक्रेश्वरी की चार, आठ और बारह हाथों वाली कुल चार मूर्तियां गुफा सं0 30 और 32 में उकेरी हैं। इनमें परम्परानुरूप गरूणवाहना चक्रेश्वरी के दो या अधिक हाथों में चक्र तथा शेष में पद्म, गदा और वज्र जैसे आयुध हैं। द्वादश चक्रेश्वरी की एक मूर्ति एलोरा की गुफा 30 में है। गरूणवाहना चक्रेश्वरी की पाँच अवशिष्ट दाहिनी भुजाओं में पद्म, चक्र, शंख एवं गदा है। यक्षी की केवल एक वाम भुजा सुरक्षित है, जिसमें खड्ग है।[17] सर्वाधिक मूर्तियां अम्बिका की बनी, जिनमें अम्बिका सर्वदा द्विभुजा एवं दिगम्बर परम्परा के अनुरूप सिंहवाहना हैं। अम्बिका के एक हाथ में आम्रलुम्बि व दूसरे में पुत्र है। पार्श्वनाथ की पद्मावती यक्षी की केवल एक स्वतन्त्र मूर्ति मिली है जो गुफा सं0 22 में है। कुक्कुट–सर्प वाहन वाली अष्टभुजा यक्षी के अवशिष्ट करों में पद्म, मूसल, खड्ग, खेटक व धनुष स्पष्ट हैं। अम्बिका के समान ही एलोरा में कुबेर या सर्वानुभूति की भी सर्वाधिक मूर्तियां है, जिनमें श्वेताम्बर स्थलों की भांति गजारूढ़ यक्ष को द्विभुज एवं पात्र (या फल) एवं धन के थैले से युक्त दिखाया गया है।

एलोरा में यक्षों, नागों, गंधर्वों, किन्नरों आदि का भी रूपायन हुआ है। एलोरा की जैन गुफाओं में लक्ष्मी और पार्श्वनाथ की मूर्तियों में नागराज धरणेन्द्र के शिल्पांकन के अतिरिक्त इक्षुधनु और पुष्पशर से युक्त कामदेव की भी एक मूर्ति मिली है।

आदिपुराण में ऋषभनाथ के पुत्रों भरत एवं बाहुबली के युद्ध और बाहुबली की कठिन तपश्चर्या का विस्तृत उल्लेख हुआ है, जो एलोरा की जैन गुफाओं की बाहुबली मूर्तियों के निरूपण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एलोरा में पार्श्वनाथ के बाद सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियां (लगभग 20) बाहुबली की बनीं जिनमें आदिपुराण के विवरण के अनुरूप बाहुबली कायोत्सर्ग में तपश्चर्या में तल्लीन और शरीर से लिपटी लता वल्लरियों एवं समीप ही निश्चित भाव से विचरण करते सर्प एवं मृग आदि वन्य जीव जन्तुओं की आकृतियों सहित दिखाया गया है, जो बाहुबली की गहन साधना के सूचक हैं। आदिपुराण में भवसरण की परिकल्पना के समान ही गज एवं सिंह तथा मयूर–सर्प जैसे परस्पर शत्रुभाव वाले वन्य जीवन–जन्तु को बाहुबली के समीप निश्चित भाव से स्थित बनाया गया है। सिंहनी द्वारा महिष के शिशु को अपने शिशु के समान स्तनपान कराने का उल्लेख भी ध्यातव्य है। 18 ये सन्दर्भ साधना और त्यागमय आध्यात्मिक वातावरण में पारम्परिक वैरभाव की समाप्ति और समभाव की स्थिति के सहज वातावरण को उपस्थित करते हैं। आदिपुराण में बाहुबली के पार्श्वों में उनकी बहनों ब्राम्ही एवं सुन्दरी के स्थान पर दो विद्याधारियों का उल्लेख हुआ है, जिन्होंने साधनारत

बाहुबली के शरीर से लिपटी माधवी को हटाया था।[19] आदिपुराण के उपर्युक्त वर्णन की पृष्ठभूमि में ही एलोरा की बाहुबली मूर्तियों में दोनों पार्श्वों में दो विद्याधारियों को बाहुबली के शरीर से लिपटी लतावल्लरियों को हटाते हुए दिखाया गया है। आदिपुराण की इस परम्परा का पालन देवगढ़, खजुराहो, बिल्हरी तथा कई अन्य दिगम्बर स्थलों की 10वीं से 12वीं शती ई0 की बाहुबली मूर्तियों में भी हुआ।[20]

एलोरा की पार्श्वनाथ एवं बाहुबली मूर्तियों क्रमशः पद्मावती एवं विद्याधारियों के निरूपण में वस्त्राभूषणों एवं केशसज्जा का वैविध्य ध्यातव्य है। साथ ही अम्बिका यक्षी, आलिंगनबद्ध स्त्री–पुरुष युगलों एवं चामरधारी सेवकों के अंकन में भी वस्त्राभूषण विविधतापूर्ण और चित्ताकर्षक हैं। एलोरा की जैन गुफा सं0 30 में शिव की नटेश के समान कुछ नृत्यरत मूर्तियां भी उकेरी हैं। एक उदारण में दो पुरुष आकृतियों को शिव आकृति के समान एक पैर उठाकर अत्यन्त गतिशील रूप में नृत्यरत दिखाया गया है। ये नृत्य मुख्यतः विभिन्न अप्सराओं (मीमांसना) एवं इन्द्र द्वारा किये गये थे। जैन पुराणों में शिव के स्थान पर इन्द्र द्वारा विभिन्न नृत्यों का किया जाना ज्ञातव्य है। कई नृत्य लोकशैली के नृत्य प्रतीत होते हैं।

संदर्भ :

1. भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के भूतपूर्व महानिदेशक श्री जे0पी0 जोशी के समाचार पत्रों में प्रकाशित 12 फरवरी 1990 की सूचना के अनुसार एलोरा में 28 और गुफाओं की खोज की गई है। परन्तु 1993 ई0 में एलोरा की यात्रा में मुझे यह ज्ञात हुआ कि वहाँ पर कुछ अन्य गुफाएं अवश्य हैं, जिनमें सफाई के कार्य चल रहे हैं। अधिकांशतः गुफाओं में महेश मूर्तियां ही हैं। नयी दृष्टि से विचारणीय होगा कि एलोरा में महेश सम्प्रदाय तो विकसित नहीं हो रहा था। 1994 ई0 में पुनः यात्रा करने पर मैंने पाया कि एलोरा में ईसा पूर्व दूसरी शती से पाँचवीं शती ई. तक के दो हजार साल पुराने एक प्राचीन शहर के अवशेष भी हैं।
2. हरनिन्दन ठाकुर, 'चित्रों का भण्डार अभी अलभ्य', 'भारत का कलातीर्थ एलोरा', आज (साप्ताहिक विशेषांक), 4 सितम्बर 1990, पृ0 13, 14.
3. एलोरा गुफाओं के परिचय सूचना पट्ट से उद्धृतः विस्तार के लिए द्रष्टव्य आर0एस0 गुप्ते तथा बी0डी0 महाजन, अजन्ता, एलोरा एण्ड औरंगाबाद केव्स, बम्बई, 1962, पृ0 218–24.
4. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, 'इमेजेज ऑफ बाहुबली इन एलोरा' केव्स स्कल्पचर्स एण्ड आर्किटेक्चर, (रतन परिमू), नई दिल्ली, 1988.
5. विस्तार के लिए द्रष्टव्य आर0एस0 गुप्ते तथा बी0डी0 महाजन पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 218–24; मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981, पृ0 135, 144, 162, 230, 243.
6. आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव, एलोरा की ब्राम्हणदेव प्रतिमाएं, इलाहाबाद 1888, पृ0 8.
7. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1881, पृ0 162, 230.
8. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, 'इमेजस ऑफ बाहुबली इन एलोरा, एलोरा केव्स स्कल्पचर्स एण्ड आर्किटेक्चर (रतन परिमू), नई दिल्ली 1988.
9. कुमुदगिरि, जैन महापुराण कलापरक अध्ययन, वाराणसी, 1985, पृ0 254.

10. कुमुदगिरि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ 4.
11. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, 'पार्श्वनाथ इमेजेज इन एलोरा', सेमिनार प्रोसीडिंग, नई दिल्ली, 1980; सेमिनार प्रोसीडिंग, नई दिल्ली, 1980; प्रो0 के0के0 दास गुप्ता कमेमोरेसन वाल्यूम, कल्याण सुमन हेतु प्रकाशनार्थ स्वीकृत।
12. मारूति नन्दन, 'जैन महापुराण की कलापरक सामग्री', संस्कृति–संसाधन खण्ड 6, 1993, पृ0 38, 39.
13. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981, पृ0 135.
14. आर0एस0 गुप्ते तथा बी0डी0 महाजन, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 129–223.
15. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981, पृ0 159.
16. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, 'पार्श्वनाथ इमेजेज इन एलोरा', सेमिनार प्रोसीडिंग, नई दिल्ली, 1990; प्रो0 के0के0 दास गुप्ता कमेमोरेसन वाल्यूम, कल्याण सुमन हेतु प्रकाशनार्थ स्वीकृत; जैन महापुराण की कलापरक सामग्री संस्कृति संधान, वाराणसी, खण्ड 6, 1993, पृ0 40.
17. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981 पृ0 17.
18. आदिपुराण, 36, 164,–176.
19. आदिपुराण, 36, 182.
20. मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, 'इमेजज ऑफ बाहुबली इन एलोरा, पूर्व निर्दिष्ट

□□

महाकवि कालिदास के साहित्य में कला का सौन्दर्य-बोध

डॉ. हरिप्रसाद दुबे

जीवन को सुन्दर से सुन्दर बनाना और ऊँचा से ऊँचा उठाना मानव का लक्ष्य है। भारतीय संस्कृति के पुजारी, महानता के आराधक अनन्त सौन्दर्य–द्रष्टा महाकवि कालिदास का कृतित्व एवं व्यक्तित्व नगाधिराज हिमालय की भाँति महान् और विराट है। सौन्दर्य के अनन्य उपासक कवि की दृष्टि से सृष्टि में सौन्दर्य का शायद ही कोई ऐसा रूप बचा हो। स्वर्ग और पृथ्वी का कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसके सौन्दर्य को इस कवि ने न देखा–परखा हो। प्रेम और सौन्दर्य के कवि कालिदास बताते हैं कि सच्चा प्रेम एक दूसरे से पृथक हो जाने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता है। पर झूठा प्रेम वियोग या पृथकता में घटता ही नहीं नष्ट हो जाता है। मेघदूत में नारी मनो विज्ञान के गहन विश्लेषक कवि की आस्था है कि प्रेम की प्रथम अभिव्यक्ति में भी स्त्रियाँ वाचिक प्रगल्भता का परिचय नहीं देती हैं। उन्हें इसके लिए वाणी की अपेक्षा अपने विभ्रम (हाव–भाव) का ही अधिक सहारा लेना पड़ता है। **स्त्रीणामाद्यं प्रणय वचनं विभ्रमों हि प्रियेषु**। अनुराग की परीक्षा अनुराग से होती है। संसार में प्रत्येक मनुष्य स्वयं को सुन्दर ही देखता है।

कालिदास सौन्दर्य को सार्वभौम चिरन्तन कहते हैं। सुंदर रूप वह है जो कि हर दशा में सुन्दर ही दिखाई दे। सच्चे सौन्दर्य को जब भी जितनी बार भी देखा जाय वह पहले की अपेक्षा और भी अधिक सुन्दर दिखाई देने लगता है। सौन्दर्य स्वयं में एक जादू, सम्मोहनास्त्र है। उस पर जिसकी भी दृष्टि पड़ती वह उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। कुमार संभव 5/1 में वर्णित है–सौन्दर्य वह है जो चाहने वाले की आँख में समा जाय। उस पर जादू कर सके–**''प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारूता**। शारीरिक सौन्दर्य देश काल की सीमा में सीमित होता है किन्तु गुण सर्वत्र समान रूप से पूजनीय होते हैं। गुणों का ऐसा प्रभाव है कि गुणवान व्यक्ति में यदि कोई कमी आ जाये तो वह ऐसे उपेक्षणीय हो जाता है[1] जैसे चन्द्रमा में कलंक (कुमारी 1/3)।

कालिदास के साहित्य में सौन्दर्य–बोध मूर्तिकला, चित्र कला और मृण्मूर्ति कला के क्षेत्र में अनुपम और विराट है कला–संस्कृति और इतिहास को जीवन्त बनाने वाले कवि ने हिमालय को देवात्मा कहकर अपनी सात्विक चेतना को व्यक्त किया है। इतिहास साक्षी है भारतीय संस्कृति के शक्तिपीठ तपोवन में कालिदास की काव्य कला को उदात्त प्राण मिला है।

कालिदास ने अपने काल की कला का व्यापक उल्लेख किया है। उन्होंने अपने साहित्य में ललित कलाओं के अनेक अंगों का चित्रण किया है। कवि के युग की कला की प्रगति रचनाओं में मिलती है। जीवन में सौन्दर्य–भाव के उत्कर्ष का साक्ष्य रघुवंश 8.67 में **ललिते कलाविधौ** से प्राप्त होता है।[2] कालिदास ने चित्रकला के क्षेत्र में असाधारण उपलब्धि का वर्णन किया है। अपने ग्रन्थ मालविकाग्नि मित्र, पृष्ठ पांच में चित्रशालां गतादेवी[3] का उल्लेख करते हुए कवि कलागुरू ने लिखा

गया देवी नगर, रामपुर भगन–फैजाबाद, उत्तर प्रदेश।

है कि चित्रशाला संगीतशाला का एक अंग थी। संगीतशाला में संगीत नृत्य और अभिनय की शिक्षा देने की व्यवस्था थी। वहाँ चित्र–वीथी होती थी जहाँ चित्र लटकते रहते और भाँति–भाँति के रंग बनाये जाते और प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार की एक चित्रशाला में राजमहिषी धारिणी जाती है जहाँ वह एक चित्र की प्रशंसा करती है जिसके अंग अभी सूखे नहीं है–प्रत्यग्र वर्ण रागां चित्र लेखा (मालविकाग्नि मित्र, पृष्ठ 5)।[4] महाकवि की यह विलक्षण सौन्दर्य दृष्टि है।

इस युग में निवास गृहों में भित्ति चित्र–निर्मित करना सामान्य वैशिष्ट्य था। इसके कवि कालिदास ने विपुल प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। गिरि–गह्वरों के शिलाचित्रों के उदाहरणों को इनके शिल्प सम्यक ढंग से प्रकट करने में समर्थ हैं। पश्चिमी घाट की श्रेणियों में अनेक बिखरे दिखाई पड़ते हैं। कालिदास ने भित्ति और शिला चित्रों का स्वयं ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही उन्हें अपनी आँख से देखा भी था। चित्रों से सजायी जाती प्रासाद गृहों की दीवारों के पाठ रघुवंश और मेघदूत में मिलते हैं आलेख शेषस्य[5], रघुवंश 14.15; सझस चित्र वत्स 25 सचित्रा प्रासादाः[6] मेघ. पूर्व विमानाग्र भूमिरा प्रासादाः मेघ. पू0,। विमानाग्र भूमरा।

लेखयानाम् 6, द्वारोपान्तोल्लिखत वपुषो शंख पद्मौ च दृष्ट्वा रघु 16.16[7] जब घर (निवास) उच्च शिलाओं पर अवस्थित रहते थे तो उनके आँगन को चित्रित करने वाले चित्र वातायनों से प्रविष्ट मेघों द्वारा कभी–कभी नम और विद्रूप करने की परंपरा थी। आँगन के चित्रण का प्रमाण (मेघ.उ.6 में) मिलता है।[8]

मेघदूत उ0, 15 में उल्लिखत है कि गृह के सिंह द्वार पर चित्रित मंगल सूचक इन्द्रधनुष (सुरपति धनुश्चारूणा तोरणेन)[9] कमल और शंख (मेघ. उ.17) थे। इस प्रकार के भित्ति–चित्रों के साक्ष्य भी कालीदास के वाङ्मय में मिलते हैं, जिनमें केलि सरोवरों के चित्रण (रघुवंश, 16.16 में उल्लेखानुसार) थे, जिनमें रह रहे हाथियों के विस्तीर्ण कमल वन में प्रविष्ट होते समय हथिनियाँ कमल दण्ड के खण्ड भेंट करती वर्णित हैं।[10] रागान्वित और आलिखित प्रतिकृतियों के अनेक उल्लेख कालिदास करते हैं– प्रतिकृतिं, रघु 18.53;[11] शाकुन्तल पृष्ठ 200, 218; माल विकाग्नि मित्र पृष्ठ[12], 73, [13] विक्रमों पृष्ठ 42।[14] मेघदूत उ. 22 में वर्णित है[15] कि एक पति वियुक्ता पत्नी के समृति पटल पर उसके पति की जो मूर्ति विद्यमान (भावगम्यम्) है वह उसकी प्रतिकृति (मत्सादृश्यं भावगम्यं लिखन्ती मेघ.उ.) चित्रित करने के मधुर कार्य में स्वयं को लगा रही है। मेघदूत के यक्ष ने एक प्रस्तर खण्ड पर गेरू से अपनी पत्नी का आलेख्य मानिनी पत्नी के रूप में (प्रणय कुपितां, मेघ उ. 42) बनाया था।[16]

कालिदास के साहित्य में सौन्दर्य बोध की दृष्टि कला के विपुल तत्वों में समाविष्ट है। विक्रमोर्वशीय (पृष्ठ 42) में उर्वशी की प्रतिकृति बनाये जाने का सन्दर्भ आया है। माल विकाग्नि मित्र (पृष्ठ 5) में मालविका एक प्रतिकृति में आलिखित है।[17] एक संकेत में एक प्रतिकृति को दूसरी से तुलना की गयी है जिसमें एक वानर आलिखित था आलेख वानर इव– विक्रमोर्वशीय पृ. 27।[18]

कवि के युग में आलिखित और आलेख आयोजित दोनों प्रकार की प्रतिकृतियों की पूरी योजनाएँ हैं। इनका व्यापक विवरण मिलता है। अभिज्ञान शाकुन्तल में विदूषक की उक्ति के एक

अंश से, जो विविध मानवी अनुभूतियों और भय, विस्मय आदि मनोभावों तथा खुले लटकते बालों और मुख पर श्रम बिन्दुओं से आलक्षित श्रान्ति भावों के आलेख्य की ओर संकेत करता है।– तर्कयामियैषाः......लिखित सा शकुन्तला, शाकुन्तल 209–10।[19] इससे भारतीय चित्रकारों की उच्चकोटि की सफलता का सहज अनुमान हो जाता है।

कालिदास ने चित्त की वृत्तियों को आलिखित करने का साक्ष्य शाकुन्तल में दिया है।[20] रागबद्ध चित्तवृत्तिरा लिखित इव सर्वतो रंग–शाकुन्तल पृष्ठ–13। एक स्थान पर चित्तवृत्तियों की सुन्दर सुन्दर प्रतिकृति की प्रशंसा की गयी है। (शाकु.पृ. 208, दुष्यन्त की शिकायत है कि उसके सामने शकुन्तला की जो प्रतिकृति चित्रित की जा रही है उसमें कानों पर, केशों में गाँठ कानों में लगाये गये चिबुक को छूते शिरीष के फूल और उरोजों (शाकुन्तल पृष्ठ 6.18) के मध्य स्थित कमल के नालतंतु का अभी भी अभाव खटकता है।[21] यह अन्यथा चित्र की पृष्ठभूमि को तपोवन के कदम्ब के वृक्षों से भरने का प्रस्ताव करता है– पूरितव्यं .... कदम्बै पृष्ठ 212। एक अन्य संकेत एक प्रतिकृति के सम्बन्ध में है, जिसमें हाथ में लाल कमल लिये शकुन्तला खड़ी है और उससे अपने अधरों (कुसुमरस ......मधुकर.........शाकुन्तल पृ. 213–14) से आ लगने वाले भौंरे को भगाती है।[22] कालिदास के अनेक ग्रन्थों में ऐसे प्रमाण हैं।

प्रतिकृति चित्रण के समान ही सम्मिलत चित्रकला के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति के साक्ष्य मिलते हैं। तीन व्यक्तियों के समूह को आलिखित पढ़ा जाता है जिनमें प्रत्येक आकृति का निष्पादन प्रशंसनीय है।[23] सर्वाश्च दर्शनीयाः शाकु.पृ. 209। एक सम्मिलत प्रतिकृति में शकुन्तला खड़ी है, उसके केशपाश ढीले पड़ गये हैं और बालों में गूँथे पुष्प गिर पड़े हैं। श्रम कण उसके मुख की सुन्दरता बढ़ा रहे हैं। एक चित्र में एक नये पल्लवों वाले आम के वृक्ष के नीचे शकुन्तला खड़ी है। उसके पास उसकी सखियाँ हैं– संख्या विति वहीं 209–10। दूसरा सम्मिलत चित्र मालविका. का है। चित्रग तामा .... आसन्नदारिकां, माल. पृष्ठ 5 अपूर्वेयं .... अलिखिता। मालविका परिचारिकाओं से घिरी रानी के पास खड़ी है।[24]

कालिदास योजना और कल्पना में अपना नैपुण्य प्रदर्शित करने वाली अपनी पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हैं। एक चित्र के बनाये जाने की इच्छा प्रकट की गयी है। काल्पनिक आलेख का स्वरूप है–''चित्र में मालिनी बह रही हो, उसके बालुकायम किनारों पर हंसों के जोड़े बैठे हों; उसके दोनों पार्श्वों पर हिमालय की पवित्र आसन्न पहाड़ियाँ चित्रित हों; शिलाखण्डों पर मृग–शावक बैठे हों। एक वृक्ष के नीचे उसकी शाखाओं पर बल्कल टंगें हो। मैं एक कृष्णसार की सींग पर एक हिरणी को अपनी बाँयी आँख खुजलाती चित्रित करना चाहता हूँ।''[25] यहाँ एक विशिष्ट आलेख है जिसमें एक पूर्णभौमिक दृश्य चित्रित किया जा सकता है। इसमें चित्रकला की उच्चता का आकलन है। अन्य संकेत एक सम्भव भौमिक दृश्य को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें तूलिका के स्पर्श के फलस्वरूप आकाश में असंख्य रंग–बिरंगी मेघमालाओं के साथ सन्ध्या प्रदर्शित है।[26]

कालिदास चित्रकला के तकनीक पर भी विचार करते हैं। चित्रकारी के लिए उन्होंने

चित्रकला में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं का विशेष उल्लेख किया है। कुमार सम्भव[27] और रघुवंश में शलाका को विभिन्न कार्यों में प्रयोग के लिए उपयुक्त वर्णित किया गया है।[28] वर्तिका रघुवंश 19.19 और कुमार सम्भव 8.45 में उल्लिखत है। तूलिका का सन्दर्भ कुमार सम्भव 1.32 में आया है। लम्बकूर्च का उल्लेख शाकुन्तल पृ. 212 में किया गया है।[29] अभिज्ञान शाकुन्तल पृ. 199, 208, विक्रमों. पृष्ठ 42 में चित्रफलक की व्याख्या कालिदास ने की है। शाकुन्तल पृष्ठ 216 में वर्ण संदर्भित किया गया है मालविकाग्नि मित्र पृष्ठ 5 में राग और शाकुन्तल पृ0 217 में 'वर्तिका करण्डक' का वर्णन मिलता है। शलाका एक पेन्सिल थी जिससे चित्र का ढाँचा अंकित किया जाता था। 'वर्तिका' या 'तूलिका' कूँची थी और वैसे ही 'कूर्च' भी। वर्तिका, तूलिका और कूर्च में कुछ अन्तर था कूर्च आधुनिक रंगने के ब्रुश के समान उपयोग में आने वाला था और जिसकी नोकें फटी थीं। वर्तिका या तूलिका भोथरी नोकवाली कलम थी। लम्ब कूर्च पद से ज्ञात होता है कि कूर्च (कूँची) की दो कोटि थी। बड़ी और छोटी।

इस समय चित्रफलक ऐसा पट था जिस पर चित्रांकन किया जाता था। चित्रांकन में प्रयोग किया जाने वाला रंग वर्ण या राग था। कुमार सम्भव 8.45 में एक चित्र के अंकन में लोहित, पीत, हरित जैसे बहुसंख्यक रंगों का उल्लेख मिलता है।[30] चित्रकार की पेटी वर्तिका करण्डक थी जिसमें कूँची रंग और चित्रकरण के लिए अन्य सामग्री रखने की व्यवस्था थी।

कालीदास के साहित्य में सौन्दर्य–बोध की दृष्टि से रंगों का प्रयोग सम्यक् विचार के आधार पर किया जाता था। इसमें कई रंग उपयोग में आते थे। शाकुन्तल–पृष्ठ 13 और मालविकाग्नि मित्र, पृष्ठ 5 में रंगों का संकेत है। कुमार सम्भव 1.32 में कालिदास का कथन है कि रंगों के प्रयोग से एक छवि की सुन्दरता निखर उठती है। माल विकाग्निमित्र की चित्रशाला की चित्रवीथी में रानी बैठी रंग–बाहुल्य से पूरित चित्रों का निरीक्षण कर रही हैं जिनके रंग ताजे हैं– प्रत्यग्रवर्ण रागां, माल. पृष्ठ 5।[31] इस समय चित्रकला का इतना अधिक विस्तार था कि इसका अनुशीलन अरण्य क्षेत्रों तक पहुँचने लगा, जहाँ मुनि कन्याएं तपो बनों में इसका अभ्यास करती थी। शाकुन्तल में उल्लिखत है कि जब शाकुन्तला पतिगृह जाते समय कण्व आश्रम छोड़ने की तैयारी कर रही थी, ऋषि कन्याओं ने कभी सुवर्णाभरण पहने किसी को देखा नहीं था– चित्रकला (चित्रपरिचयेनाडे.गषु शाकु.पृष्ठ 131) की अपनी जानकारी से आभूषणों के पहने जाने का रचित प्रकार से जान सकीं। और उसी क्रम से शकुन्तला के अंगों में यथास्थान उनको पहना सकीं। कालिदास ने चित्रकला का अनुशीलन मात्र मनोरंजन के लिए नहीं बल्कि योगाभ्यास जितना अनिवार्य बताया है।

एक शिल्पी के लिए यह आवश्यक कहा गया है कि मूर्ति निर्माण आरम्भ करने के पूर्व उसे अपने प्रतिपाद्य मूर्ति के ध्यान में लीन होकर पर्याप्त काल तक अवश्य बैठना चाहिए। शुक्रनीति अध्याय 4 खण्ड 4, 147–50 के अनुसार योग और समाधि में योग–दान की शक्ति प्रतिमा की विशेषता है।[32] कालिदास मालविकाग्नि मित्र (शिथिल समाधि, माल; 2.2) की रचना आरम्भ करने के पहले कलाकार की रचना आरम्भ करने के पूर्व कलाकार में ध्यानावस्थित होने की कमी का उल्लेख करते हैं।[33] राजा ने मालविका को एक सामूहिक चित्र में देखा है। उसकी अलौकिक सुन्दरता पर

वह मुग्ध हो जाता है। उसका असामान्य सौन्दर्य उसको विस्मित कर देता है। उसे सन्देह होता है कि कदाचित चित्रकार ने अभिव्यंजना में इसे अपरूपता दे दी है किन्तु जब मालविका स्वयं आकार उसके सामने खड़ी हो जाती है, तो राजा चकित होकर कह उठता है : 'जब वह मेरे लिए एक चित्र थी, मेरे मन को आशंका होती थी कि उसका (वास्तविक) सौन्दर्य कदाचित चित्रित रूप की तुलना न कर सके, किन्तु अब मैं सोचता हूँ कि जिस चित्रकार की तूलिका ने उसके रूप लावण्य को चित्रफलक पर अंकित किया उसकी समाधि में कितनी शिथिलता थी। 'शिथिल समाधि' पद कलाकार में ध्यान की शिथिलता का संकेत करता है जिसके कारण उसके शरीर की मनोहारित और प्रतिकृति की सुन्दरता में इतनी भिन्नता हुई चित्रकला के इन उपकरणों और उच्चकोटि की कल्पनाओं से युक्त चित्रण के सुश्लिष्ट सिद्धान्तों के साथ भारतीय कलाकार मानवीय मनोभाव और अनुभूतियों की पूर्ण अभिव्यंजना कर सके।

देश के संग्रहालयों में मूर्तियों से सम्बद्ध कल्पनाओं को सम्मोहन देने और स्थूल चित्र उपस्थित करने वाले बीसों वाक्यांशो द्वारा कालिदास मूर्तिकला के क्षेत्र में अपने काल की प्रवत्तियों को अप्रत्यक्षतः प्रतिध्वनित करते हैं। कवि ने विक्रमोर्वशीय 3.2 में कहा है– मयूर रात बीतने पर निद्रलु होने के कारण अपने अड्डों पर शिथिल हो बैठते हैं मानों वे मूर्तित आकृतियाँ हों।[34] रेलिंग स्तम्भों पर उत्कीर्ण नारी मूर्तियों का सन्दर्भ मिलता है। मथुरा संग्रहालय में गोलाई में उत्कीर्ण मयूर की एक सुन्दर मूर्ति विद्यमान है– रघुवंश 16.17 में उल्लिखत है–[35] **स्तम्भेषु योषिप्रतियातनानामुत्क्रांतवर्ण क्रम धूसराणाम्।**

स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संड़गत्रिर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः रेलिंग स्तम्भों पर उत्कीर्णित कुषाण पक्षियों की मूर्तियाँ संग्रहालय के एक पूरे भाग में संरक्षित हैं जो पुरातन मथुरा की चित्र शालाओं में रूप पायी और बनी कला की सर्वोत्तम कृतियों की संकुलता प्रदान करने वाली हैं। कालिदास प्राचीन मथुरा की इन मूर्तियों से अवश्य प्रभावित हुए। भरहुत के प्राचीन रेलिंग स्तम्भ में कालिदास ने गंगा–यमुना की चामर वाहिनी मूर्तियों का वर्णन किया है।– मथुरा संग्रहालय प्रदर्शन सं. 14.466।

उत्कीर्ण शब्द का अर्थ है 'खोदकर बनाया हुआ। कदाचित पृष्ठभूमि पर मूर्ति–निर्वाण (Basso Reticro) रघुवंश में उजड़ी अयोध्या के वर्णन में हमें स्तम्भों पर उत्कीर्ण नारी मूर्तियों के विषय में सन्दर्भ मिलते हैं जो अवश्य ही राजमहल के रेलिंग स्तम्भ थे। कालिदास कहते हैं– स्तम्भों पर उत्कीर्ण नारी मूर्तियों के, जो धूलधूसरित हो गयी हैं जिनके रंग की रेखाएं मिट सी गयी हैं, स्तनों के संसर्ग में आकर कृष्ण सर्पो ने केचुलियाँ छोड़ी हैं, वे उनके स्तनों को ढ़ँकने के उत्तरीय हो रही हैं।[36] **मूर्ते च गंगा यमुने तदानी सचामरे देवम सेविषाताम्**– कुमार संभव 7.42। कालिदास देवताओं की असंख्य प्रतिमाओं (देव प्रतिमाः) रघुवंश 16.39, 17.36 और दूसरे मूर्ति निर्माण (मूर्तिमन्तम् रघुवंश 17.31 का उल्लेख करते हैं।[37] गंगा–यमुना की उत्कीर्ण प्रतिमाओं के अलावा कुछ हिन्दू देवताओं की उत्कीर्णित मूर्तियों की ओर विशेष संकेत करते हैं। रघुवंश 10.73; कुमार संभव 2.3 के अनुसार छेनी से काट और गढ़कर पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा की मूर्ति निर्मित की जा रही थी।[38]

चतुमूर्तिः धातारं सर्वतोमुखम) कालिदास विष्णु की मूर्ति का सर्वाधिक सजीव चित्रण किया है।– (मूर्तिभिः) इसके लिए कवि सैद्धान्तिक मूर्ति निर्माण कला क्षेत्र में प्रवेश किया कई पद्यों के आभ्यन्तर में विष्णु मूर्ति का निदर्शन मिलता है।

शेष शैया पर लेटे विष्णु (भोगि भागासना सीनम) और उनके फनों[39] रघुवंश 10.7 श्रीवत्सलक्ष्मा पुरूषश्च साक्षात्, कुमार संभव के चँदोबा के नीचे कमल पर बैठी अपनी मेखला को अपने रेशमी उत्तरीय से ढँकती हुई उनकी पत्नी लक्ष्मी अपनी गोद में रखे उनके चरणों को हाथ में लिये हैं।[40] रघुवंश 10.8)। श्रीवत्स (श्रीवत्सलक्षणं, रघु. 17.29) चिन्ह वाले देवता ने प्रशस्त वक्षस्थल पर (रघु 10. 10) कौस्तुभमणि धारण किया है। कालिदास इस प्रतिमा के चित्रण में विग्रह शब्द रघु 10.7 प्रयुक्त करते है[41] जिसका अर्थ मूर्ति होता है। प्रतिमा की पूर्णता के लिए किरीट (रघु. 6.19, 10.75 जलज, चक्र गदा और सारंग जैसे लक्षण अनिवार्य हैं।[42] विष्णु के पास उनके सेवक गरूड़ (रघु. 13.61) रहते हैं। कालिदास ने एक दूसरे चित्र में कौस्तुभधारी विष्णु की सेवा हाथ में (रघु. 62) कमल का पंखा धारण किये लक्ष्मी द्वारा कराते हुए उल्लिखत किया है। रघुवंश[43] के अनुसार इन विशिष्ट लक्षणों से वामन विष्णुओं की मूर्तियाँ (रघु, अध्याय 51 मूर्तिभिः) पहचानी जाती हैं। संग्रहालय में प्राप्त प्रतिमा त्रिमूर्ति का उल्लेख कवि ने किया है, इसमें ब्रह्मा, विष्णु शिव के तीन शिरों की एक संयुक्त आकृति है।[44] कमलों के मध्य रश्मि विकीर्ण करते हुए चंद्रमा का उत्कीर्णन रघुवंश (7.64– पड़कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमा शशाड़गम्) में है। यहाँ पर सौन्दर्य सौष्ठव सम्पूर्ण शिल्प में है।

कालिदास के साहित्यिक सौन्दर्य–बोध में मृण्मूर्तिकला का उच्च स्थान है। शाकुन्तल में शकुन्तला के पुत्र द्वारा मिट्टी के रंगीन मयूर[45] वर्ण चित्रिता मृत्तिका मयूराः शाकु पृ. 13 के साथ क्रीड़ा करने का उल्लेख आया है। मृण्मयूरहस्ता, शाकु. पृष्ठ 247 भद्रमयूर शाकु. पृ. 248। इसके रंग वैचित्रय (वर्ण चित्रितो शाकु. पृ. 243 की पुनः प्रशंसा (शकुन्तलावण्यम् शाकु. पृ. 247) वर्णित है। प्राचीन स्थानों के उत्खनन में असंख्य मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। पशु–पक्षियों की आकृतियाँ खिलौने के उपयोग में आती थी। मथुरा संग्रहालय की मनोहारी मृण्मय मयूर विलक्षण है। कालिदास ने भरत के हाथ के सम्बन्ध ा में–जालग्रथितांगुलिः प्रयुक्त किया है।[46] कवि ने प्रायः प्रभामण्डल रघु 15.82, 17.23; कुमार सम्भव 6. 4, 7.38), छायामण्डल (रघु0 4.5) और स्फुत्प्रभा मण्डल (रघु. 3'60, 5.51, 14.14, कुमार.1.24) का वर्णन किया है। कला के द्वारा कालिदास सौन्दर्य की परिभाषा देते हैं।

कालिदास की कृतियों में मयूरासीन कार्तिकेय की अवधारणा श्रेष्ठ है– मयूराश्रयी गुहः, मयूर पृष्ठाश्रयिणा गुहेन।[47] इस युग के मूर्ति–शिल्पियों को मयूरारूढ़ कार्तिकेय की मूर्तियाँ विशेषप्रिय थी कालिदास ने कटिसूत्र और मेखला का उल्लेख अधिक किया है– माल. पृष्ठ 28, 59, 3.21; रघुवंश 6'43, 7.10, 8.64, 13.33, 16.65, 19.25, 26, 27, 41, 45 कुमार. 1.37, 38, 8.89, 35; ऋतु 1.4, 6, 2. 19, 3.24, 4.4, 6.3, 24, 43। केयूर और मेखला इस काल का वैशिष्ट्य था[48]। मृण्मयी नारी मूर्तियों के सिर से लटकती अपूर्व सुन्दर लटें और घुँघराले बाल हैं। गाजीपुर के औरिहार से आधा मील पूर्व और स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के विजय स्तम्भ की भूमि सैदपुर भीतरी से डेढ़ मील उत्तर पश्चिम मसोन स्थल से हाल में अनेक मूर्तियाँ मिली हैं कालिदास भारान्वित पयोधरों का वर्णन करते

हैं।–गुरुश्रोणिपयोधरत्वात, रघुवंश[49] रघुवंध 7.25 में नितम्बों की गुरूता उल्लिखत है। आवर्त्तशोभा या एक गहरा आवर्त्त बनाने वाली नाभि की शोभा मूर्तिकला की विशेषता है[50] अशोक वृक्ष में फूल लाने के लिए उस पर पदाघात करने को तत्पर या पदाघात करती हुई अर्द्धनग्न यक्षी के दोहद दृश्य कालिदास के साहित्य (रघु 8.62, 9.12 मेघ उ. 15 में बार बार मिलते हैं।[51] डॉ0 पी0 एच0 वोगेल ने मथुरा संग्रहालय की सूची प्रस्तुत करते समय मालविकाग्नि मित्र के एक तद्रूप दृश्य की समानता पर आश्चर्य किया था। साहित्य और कला जीवन का प्रतिबिम्ब है। सप्तमातृकों (सप्तमाताओं) को यथार्थ रूप में गढ़ी हुई और मूर्त पाते हैं सप्त माताओं में से एक काली का कालिदास ने मुण्डमाल धारण किये (काली कपालाभरणा, कुमार 8.39, चल कपाल कुण्डला) उल्लेख किया है।[52] एलोरा में इसकी एक मनोहारी आकृति है। कालिदास द्वारा वर्णित शिव के निवास कैलाश को उठाये रावण का दृश्य कुषाण कालीन मूर्ति कलाकारों को अत्यन्त प्रिय है। पद्म पर खड़ी[53] कुमार.7.89) अथवा कमल दण्ड (माल. 5.6) हाथ में धारण किये या कमलनाल (लीलार विन्द) कुमार0 3.56, 6.84, रघु 6.13– के साथ क्रीडा करती लक्ष्मी अपने सभी अंग संस्थानों के साथ प्रदर्शित हैं। लीलारविन्द के अन्य संकेत भी प्रचलित हैं।[54]

कालिदास ने शिव तथा उमा का जो सुन्दर चित्रण किया है वह अनेक मूर्तियों में सुन्दर दम्पती के रूप में मूर्त है। मथुरा में एक द्वार की चौखट की (मेघ उ0 29, 36) चित्रकारी में चोटियों के गहने और खोलने के दृश्य सौन्दर्यमय उत्कीर्ण हैं। मथुरा के रेलिंग स्तम्भों में एक पर श्रृंगार–पेटिका लिए एक प्रसाधिका की मनोहर मूर्ति है[55] किन्तु सैरन्ध्री की सबसे नयनाभिराम प्रतिमा बनारस कला भवन में है। कालिदास के ग्रन्थों में पूर्ण कुम्भ[56] (मथुरा के द्वार पटों पर मूर्त)[57], नागी हाथ से गेंद को मारना[58] और उसकी चोट खाकर उछलना, एक मुरलीवादक[59] लम्बीमाला (रघु0 6.60) और हाथ में दण्ड (कुमार 3.41) लिए दौवारिक (मथुरा के एक द्वार मार्ग में मूर्त) के साक्ष्य मिलते हैं।[60] मथुरा के दो बड़े यूपों में कालिदास के ग्रन्थों के प्रमाण हैं।

कालिदास के किन्नर और अश्वमुखी (कुमार. 1.8 अश्वमुख्य) के प्रतिरूप मथुरा संग्रहालय में दो श्रेष्ठ आकृतियों में हैं। रघुवंश 5.26 27, 9.24, 25, 14.16, 20 कुमार 2.22 3.25 में कालिदास का संकेत कुबेर पाते हैं। वरूण (रघु 9.24, कुमार 2.22) और इन्द्र कला में विद्यमान हैं। पूर्ण खिले कमल कवि के अत्यन्त प्रिय उपमान हैं। मथुरा की एक दीर्घ शुंग मूर्ति–मेखला (रघु. 1.49, 52) में रघुवंश के तपोवन के हरिणों से पूर्ण द्वार वाले व्यस्त उटज सौन्दर्य मय उत्कीर्ण हैं। जिसमें एक मुनि का उटज, हरिण, एक वेदी, एक कमण्डलु और तपोवन के आसपास रहने वाले दूसरे पदार्थों का पूर्ण चित्र दीख पड़ता है।[61]

कुमार सम्भव 1.41, 2.64, 7.92; रघुवंश 9.39, 11.39, 9.45 विक्रमो में अपना पुष्प और पंचवाण लिए कामदेव एक मृण्मयी पूरी खड़ी आकृति में उद्देश्य पूर्ण सुन्दरता के साथ उत्कीर्णित है, जो मथुरा संग्रहालय में है। भारत में यह अपने ढ़ंग की एक ही मृण्मयी आकृति है। वीरासन मुद्रा में समाधिस्थ शिव के दोनों कन्धे कुछ आगे की ओर झुके हुए हैं। उन्होंने अपनी दोनों कन्धे कुछ आगे की ओर झुके हुए हैं। उन्होंने अपनी दोनों हथेलियों को पूरे खिले कमलों की (कुमार 3.45) भाँति

अपने अंक में सथापित कर लिया है। उनके सिर के बाल (कुमार 46) एक गाँठ देकर बाँध दिये गये हैं। उनकी आँखें कुछ खुली, कुछ झुकी तथा पुतलियाँ नासिकाग्र पर लगी हैं (कुमार 47)। स्थिर दीप शिखा (कुमार 48) के समान दीख रहे हैं।[62] कामदेव इन अजेय देव को संदेह, भय की दृष्टि से देखता है उसका धनुष उसके हाथ से गिर पड़ता है।

कालिदास के वाड़गमय में मूर्तिकला, चित्रकला और मृण्यमूर्ति कला का शिल्प अद्भुत अलौकिक और चेतना से ओतप्रोत है। कला–संस्कृति और इतिहास की व्याख्या करता कला का सौन्दर्य बोध इतिहास की दृष्टि से उच्चकोटि का है। इतनी सुन्दर मीमांसा अन्य भारतीय कवि द्वारा साहित्य में नहीं की गई है। भारतीय कला में कालिदास का सौन्दर्य वोध, शाश्वत एवं जीवन मूल्यों को समाहित करने में पूर्ण समर्थ है।

सन्दर्भ :

1. कुमार सम्भवम्– 1/3
2. रघुवंश– 8.67
3. मालविकाग्नि मित्रम्, पृष्ठ 5
4. मालविकाग्नि मित्रम् पृष्ठ 5
5. रघुवंश– 14.15
6. मेघदूतम पूर्व
7. रघुवंश 16.16
8. मेघदूतम् उ0 6
9. मेघदूतम् उ0 15
10. रघुवंश– 16.16
11. रघुवंश– 18.53
12. अभिज्ञान शाकुन्तल पृष्ठ 200
13. मालविकाग्नि मित्रम् पृष्ठ 12, 73
14. विक्रमोर्वशीय
15. मेघदूतम उ0 22
16. विक्रमोर्वशीय पृष्ठ 42
17. मालविकाग्नि मित्रम् पृष्ठ 5
18. विक्रमोर्वशीय पृष्ठ 27
19. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 209–10
20. वही/पृष्ठ 13

21. वहीं पृष्ठ 6.18
22. वही पृष्ठ 213–14
24. मालविकाग्नि मित्रम् पृष्ठ 209
25. अभिज्ञान शाकुन्तलम 6.17
26. कुमार सम्भव 8.45
27. कुमार सम्भव– 1.47
28. रघुवंश– 7.8
29. अभिज्ञान शाकुन्तल –पृष्ठ 212
30. कुमार सम्भव– 8.45
31. मालविकाग्निमित्र – पृष्ठ 5
32. शुक्रनीति अध्याय 4 खण्ड 4.157–50
33. मालविकाग्निमित्र – 2.2
34. विक्रमोर्वशीय 3–2
35. रघुवंश 16.17
36. कुमार सम्भवम् 7.42
37. रघुवंश 16.39, 17.73, 17.31
38. रघुवंश 10.73, कुमार संभव 2.3
39. रघुवंश 10.7
40. कुमार सम्भव 7.43
41. रघुवंश– 10.7
42. रघुवंश– 10.60
43. रघुवंश– 13.60
44. कुमार संभव–2.4
45. अध्याय 4 विभाग 4, 147–150
46. शाकुन्तल– 7–16
47. रघु 6.4
48. रघु 1.42
49. रघु. 6.60, 6.28
50. रघु 16, 16.63
51. मालविकाग्नि मित्र
52. रघुवंश 11.15

53. रघुवंश 4.14, 10.8
54. रघुवंश 6.13, कुमार 6.84
55. रघुवंश 7.7
56. रघुवंश 5.63
57. माल पृष्ठ 64
58. रघु– 16.89
59. कुमार संभव 3.41
60. रघुवंश– 1:49, 52
61. विक्रमो– 2.2
62. कुमार सम्भव 3.45 / 46 / 47 / 48

❑❑

State Of Jainism In Early Medieval Central Western India

Dr. Surabhi Srivastava

The period of 10th century to 12th century A.D. witnessed the growth of mercantile activities and flourishing trade in the Central Western Indian region as compared to the earlier two centuries. Trading community being a large follower of Jainism helped in the progression of the sect and the region under consideration became a stronghold of this faith.

Jainism was fairly popular sect in the region even in the preceeding centuries as is testified by the two records of the Imperial Pratīhāras i.e. of Avanti branch which throw light on Jainism between 8th century A.D. to 10th century A.D. The Osian Temple inscription[1] engraved on a Jaina temple testifies its existence during the period. The Deogarh Pillar Inscription[2] of Bhojadeva refers to the existence of the temple of Jaina Arhat śantināth, which was built by Deva, a disciple of Ācārya Kamaldeva at Luachagiri (Deogarh, distt. Lalitpur, U.P.) and was completed in the year 919 (A.D. 862).

The statue bears several salient feature of Jaina *Tīrthaṅkar* Śāntināth having the golden colour with cognizance symbol of Deer or Tortoise, The other features of Śāntinātha idol bears Nandi vriksha as the special tree Garuda (D) the attendant Yaksha on Boar or Bull as vehicle, Mhāmanasī (D) and Nirvaṇi (S) the attendant Yakshiṇis with peacock, Lotus or Lion vehicle and sometimes as the miscellaneous feature Rājā Purushadaṭta is depicted as Chaurī-bearer.[3]

Though another branch of the Pratihāras i.e. of Māṇḍavyapur (Maṇdor) furnishes some information about the state of Jainism in the region (i.e. Rājasthan) held under their sway. The Ghatiyāla inscription[4] records that the illustrious Kakkuka built a temple of god Jina and entrusted it to the Jaina community prescribed over by the ascetics Jāmadeva and Amraka and the merchant Bhakūṭa in the gocha of the holy Dhaneśvara.

After the fall of the Pratīhāras the region of Bundelkhand went under the

Assistant Professor, Ancient Indian History, Deptt. of History Dr. Shakuntala Misra National Rehabilitation University, Lucknow.

rule of the Chandellas. A good number of Chandella records throw ample light on the state of Jainism under this dynasty. To begin with Khajuraho group of temples which also contain Jaina temples. One Khajuraho Jaina temple inscription of the time of Dhangadeva, Vikram era 01[5] records the presentation of several gardens by Pāhilla to the temple of Jinanath, which, though not explicitly mentioned but can easily be surmised from the existence of the image in the Temple which is golden in colour with cognizance symbol of Lion and depiction of special tree śāla (*shorea robusta*) attendent *Yakṣa* Mātanga (vehicle elephant) and *Yakṣini* Siddhayikā (vehicle - Lion) & sometimes goose) along with *Śreṇikā* - Chauri - bearer. The gardens donated were :- (1) Pāhillavāṭikā (2) Chandra - Vāṭika (3) Laghuchandra vaṭika (4) śaṅkara - Vatika (5) Pañchaitala Vatika (6)Āmra - Vatika (7) Dhaṅgavāḍi i.e. Dhanga Vātika. The names of all these seven gardens are consecutively mentioned in the record just-after the first stanza which refers to Dhanya and then praises Pāhilla as a man of disposition. The donor Pāhila is again mentioned in Darbat śāntinātha Image Inscription of the time of Kirttivarman Vikram era 1132[6] as *śreṣṭhin* (traders) along with Jīju. It is interesting to note that still a large population of trading community in Bundelkhand region follows Jainism especially the Digambara sect.

Another inscription is inscised on the top of the pedestal of a colossal stone image, seated, of the third Jaina pontiff Saṁbhavanāth in a small ancient Jaina temple dedicated to Ādināth at Khajuraho in the Chhatarpur district of the Bundelkhand region of Madhya pradesh, known as Khajuraho stone image inscription of the time of Mandanvarman, Vikram era 1215[7]. The salient feature of Sambhavanātha image are the golden colour with cognizance symbol of horse with śāla tree, attendant *Yakṣa* Trimukha (vehicle-Peacock) and *Yakṣiṇi* Duritāri (Prajñapti - vehicle- buffalo, Peacock). *Satyavīrya* is the chauri bearer.[8]

In Jaina mythology the *Yakṣas* and *Yakṣiṇs* are also known as *śāsanadevatās* or attendant spirits. They represent a class of semi-gods. These have been in existence in the Hindu literary tradition much before the rise of Jaina or Buddhist pantheons. 'A *Yakṣa* is a devotee of the *Tirthaṅkaras* : According to Jaina belief Indra appoints one *Yakṣa* and *Yakṣini* to serve as attendants on each Tirthankar. The *Yakṣa* would be on his right and *Yakṣiṇi* is placed on the left. The *Yakṣiṇis* being the female attendants of the *Tirthaṅkaras* were revered as the leaders of

the women converts. They are endowed with semi-divine attributes. They are also known as *Vidya-devīs*, goddess of learning which are sixteen in number which includes *śruta-devi* or *sarasvatī* bearing close resemblance to the Brahmanical goddess of the same name. She is the head of the sixteen goddesses of learning. *Jñāna pañchamī* (on the *śukla pañchamī* of *kārttika* month) is observed by the Jainas when devout followers fast and worship books etc.

The Āhar statue Inscription of the time Paramardideva, Vikram era 1237,[9] opens with paying obeisance to Veetaraga and informs us about the two brothers i.e. Jāhāḍa and Dayachandra both desiring to obtain salvation jointly constructed the Śāntinātha *chaitya* i.e. the sanctuary where the image of *arhat* was installed.

A minor dynasty which ruled over the region (partly) under consideration was of the Kachchapaghātas at the same time. Dubkuṇḍa stone Inscription of the time of Vikram Siṁha dated Vikram era 1145,[10] begins with six introductiory verses which either invoke the blessing or praise (the Jaina *Tīrthaṅkaras*) Rishabhasvamin, Śantinātha, Chandraprabhā and Jina (Mahavira), the sage Gotama and last of all *śrutadevi* i.e. the goddess of eloquence or learning by the persons who put up the inscription were devoted to Jainism and contributed towards the construction of the temple.

Reference of erecting another temple in the honour of Jina at Palāsavāha comes from Bhīmpur stone Inscription of the time of Āsalladeva who belonged to the house of the Yajvapālas of Narwar. The inscription dated in Vikarm era 1219,[11] records that Jaitrasimha, whose mind had been purified by the doctrine of Jainism raised a temple for Jina at the place mentioned above. It also furnishes the names of the devout jainas who were on the managing committee (*goṣṭhikās*) for the construction and consecration of the temple.

The charters of the Paramāra rulers of Malwa (Central India) also throw sufficient light on the state of Jainism under these rulers. A good number of jaina temples were erected and statues of Jaina *thīrthaṅkars* were established in various cities. The undated Kalvan Copper plates of Yaśovarman of the time of Bhoja Paramāra refers to a *sāmanta* śri Ammarāṇaka of *Gaṅga kula* who made a donation to śri Jina muni of *śvetāmbar* sect Jina temple.[12] Another undated

inscription from Bhojapura belonging to the period of Parmāra Bhoja inscribed on the pedestal of a grand Jina statue.[13] Though most of the letters have broken yet it is easy to ascertain from the remaining part that a household named Sāgarnandi erected the statue of *Jina* śāntināth and the consecration ceremony was presided over by Jaina *ācarya* Nemichandra Sūri. Another charters inscribed on the pedestal of a Jina sculpture[14] comes from Shergadh (Rājasthan) speaks of Shilāśri, a *sūtradhāra* who is credited with erecting the statues of śānti, Kunthu and Arr Jaina *thirthaṅkaras*. A good number of the remains of Jaina temples have been brought to light from the adjacent area. The Paramāras of Ābu, Bhinmal and Vāgaḍa also patronised Jainism. The Arthūṇa Stone Inscription of Vijayarāja[15] opens with paying obesiance to Veetrāga and refers to a Jaina family (*vaṁśa*) whose member established a temple of Vṛshabhanāth and put up his statue in it. Another charters from Arthūṇa dated Vikarm era 1159 of Chāmuṇḍarāja speaks of a Jaina temple erected during this period.[16]

The Paramāra rulers patronised the Jaina *ācarya* and scholars. The writer of ***Darśansāra***, jaina scholer Devasena completed his literary work while residing in Pārśvanath temple at Dhārā in 933 A.D. The Paramāra king Vākpati II patronised the Jaina *ācaryas* Amitgati, Mahasena and Dhaneshwar.

The famous jaina scholars Prabhāchandra and the writer of ***Tilakamañjarī***, Dhanapāla decorated the court of Bhoja Paramāra, the poet Nayanandi wrote ***Sudarśana-Carita*** while residing at *Jinavihāra* at Dhārā. Muni Devabhadra, the great monk Jineśvara Sūri, *ācarya* Buddhisāgar were also patronised by the Paramāra king. The tradition of patronising jainism continued even after Bhoja and a number of jaina pilgrimage centres existed under the Paramāra dominion, viz. Achaleśvara, Arbhudacalatīrth, Kuṇḍageśvara, Abhinandadeva tīrtha etc.

The jainas received the support of the Solanki rulers. The Varunsarmaka grant of v.s. 1033[17] informs us that when Mūlarāj I was on the throne, the crown prince Chamuṇḍarāja granted one field of land to a Jain temple at Varunasarmaka, this place has been identified with modern Vadadama in the Mehsana district, Gujarata. The charter explicitly mentions *Jina-bhavana*, *Jina-bimbam*, *Jina-pūjā*, i.e. Jaina temple, image of Jina and his worship.

A good number of monastic orders called *gacchas* flourished during this

period, viz. kāmyaka *gaccha*, ṣanderaka-*gaccha*, khartara *gaccha*, etc. We learn about the last jaina order i.e. kharataragaccha with reference to the Chaulukya ruler Durlabharāja in whose court the great jaina monk Vardhamāna sūrī and his disciple Jineśvara defeated in A.D. 1024 the Chaityavāsins at a debate held in the court of Durlabharāja. It was the Chaulukya ruler who conferred upon Jineśvara the epithet of *kharatara* meaning 'the very keen (one),' and thus the sect came to be known by this name after the title bestowed upon its head monk. According to R.G. Bhandarkar the Chaityavāsins defeated by Jineśvara were members of a Jaina sect which advocated the propriety of residing in the temples though some scholars argue that the reference to Chaityavāsins stands for Buddhists who were powerful in Gujarat region during 6th and 7th century A.D. and continued upto the end of 9th century A.D. This assumption is based on two charters of the Gujarat Rāṣṭrakūṭas, the first grant is made by Dantivarman to a Buddhist vihāra in Kampilya in śaka 789,[18] the other one is made by Dhruva to the same vihāra in śaka era 806.[19] If these Chaityavāsins are to be taken as Buddhist then they left the Chaulukya Capital after the defeat in aforesaid debate in accordance with the condition stipulated before the debate took place. The monastic order known as kharataragaccha is known to us even in the Mughal period through a praśasti of the temple of Vadipura-Parśvanath at pattana.[20] The charter renders an account of the succession of the venerable pontiffs of the famous Bṛhat Kharatara (*gachachha*) after bowing to the Arhat. In the reign of the Pādishah, the illustrious Akbara. The Paṭṭāvali (II-4-40) enumerates the following spiritual chiefs of the Kharatara school :-

1. Uddyotanasūri, who descending in an unbroken line from the ruler of the faith, the glorious lord Mahavira, made *vihāras* resplendent.
2. Vardhamāna sūri, who consecrated the temple (*vasati*) built on Mount Arbud (Ābu) by the *daṇḍanāyaka* Vimala and worshipped the *sūrimantra* that had been corrected by the glorious lord Sīmandhara.
3. Jineśvara Suri I, who in 1080 obtained the little Kharatara after throwing the *chaityavāsins* in the Darbar of Durlabhrāja king of Anhilvāḍa.
4. Jinachandra Sūri I
5. Abhayadeva sūri who, in consequence of a revealation from the guardian

deity of the faith, made known the image of Parśvanatha of stambhanā (Thāsrā?) and thereby was freed from his loathsome leprosy, who obtained fame by composing the ***Navāngī*** and other works.

6. Jinavallabhasūri who awakened 10,000 *śrāvakas* of the Vāgada country (i.e. eastern kutch or Dungarpur) by sending a letter consisting of ten *kulakas*, and exalted the Jaina faith by composing excellently written good poems and various *śāstras*, such as *piṇḍaviśuddhi.*

7. Jinadattasūri, who by his power subdued the company of the 64 *yoginis*, 52 *viras* (and?) *Piras* of Sindh, who obtained the rank of *yuga-pradhāna* by reading the golden letters written by Ambaḍa's hand, and by magic walked across the five rivers of Ṗunjab.

8. Jinachandrasūri II who awakened the illustrious Mahatīyāna, chief (*Pradhāna*) of the *usvālas* (*osvāls*) and other clans in śrimāla (Bhinmāl), and had the *naramaṇi* in his forehead.

9. Jinapatti, who accomplished the *vidhipakṣa* through the *shaṭtrimśadvāda* in the shape of the *Prabandhhodaya* and other works which were examined by Bhaṇḍari Nemi Chandra (??)

10. Jineśvara Sūri II, who consecrated the *śātivīravishichaitya* in Lāṭhaula-Vījāpura.

11. Jinaprabodhasūri

12. Jinachandrasūri III who was adorned with the title Rājagachachha, because he converted four kings.

13. Jinakuśalasūri, who consecrated the Khartara temple (*vasati*) the ornament of famous śatruṁjaya.

14. Jinapadmasūri

15. Jinalabdhisūri

16. Jinachandrasūri

17. Jinadayasūri who granted happiṇes, viz. the diginity of *saṁghapati* and so forth, by throwing his dress (over people) at the *devāṅganāvasara* (?)

18. Jinarājasūri
19. Jinabhadrasūri, who founded excellent libraries in various sacred places.
20. Jinachandrasūri
21. Jinasamudrasūri, who by magic subdued five *Yakṣas.*
22. Jinahaṁsasūri, whom the illustrious pādishāh sikandar (i.e. Sikandar bin Bahlol who ruled A.D. 1489-1510) being astonished at his austerities and meditation, honouring by releasing 500 prisoners.
23. Jinmāṇikyasūri, who by magic crossed the five rivers of the Panjab, and prevented (or warded off) a violent attack of the Yavanas (Muhammadans) through the power of his exceeding meditations.
24. Jinachandrasūri VI, the ruling spiritual head, who conquered many opponents in disputations ..... it was by his advice that the temple of Vāḍīpura-Pārśvanātha was built.

The remainder of the inscription, lines 40-52, furnish the pedigree of the founder of the temple, who belonged to the Osvāl clan and the line of *Mantrin* Bhima.

The period of Solanki ruler Siddharaja in Gujarat witnessed the dominance of śvetambara sect over the Digambaras as a result of a debat held in the court of Siddharāja where the latters were defeated by the earlier ones. The incident is narrated in some of the literary works of Gujarat, viz. the ***Prabandhcintamani*** and the ***Prabhāvakacarita***. Devachandrasūri represented the śvetambaras and Kumudachandra, the ill fated Digambar monk faced him in the debate. The debate lasted for several days and at last Kumudachandra unable to explain a point of sanskrit grammer[21] accepted defeat was shown out by the back door. Siddharaja also extended his patronage to Jainism by building a Jaina temple and Hemchandra is said to have accompanied the ruler when the great king went and worshipped at the temple of Neminātha at Ujjayanta where he prayed for a son.[22] Abhayatilaka Gaṇi, the commentator of ***Dvayāśrayakāvya*** furnishes the details of rituals performed by the king on this occasion first at a śiva and then at a Jaina temple.

The next Solanki ruler Kumarpāla, as gleaned from all accounts was the

greatest supporter of Jainism who made Gujarat a forever stronghold of this sect. But the main credit should be given to Hemachandra the great jaina monk-scholar whose deep innfluence on Kumārpāla made this happen because the great scholar was absolutely free from any sectarian prejudice. Kumārpāla while not ceasing to be a Hindu actively promoted the spread of Jainism. Kumārpāla is said to have enforced some measure such as banishment of gambling, drinking and several other vices which have been denounced in all religions but one was a typical Jaina proscribe i.e. slaughter of animals, however two charters[23] of his reigns forbidding the killing of animals have been issued by his feudatories and not by the solanki ruler himself. The Kiradu Stone Inscription of Alhaṇadeva, dated VE 1209[24] records that on the day of *Shivaratri*, Alhaṇadeva thinking of granting of securing to animals to be the highest gift, issued *injunctions*, for the increase of his spiritual merit and fame, to the *mahājanas*, *tāmbulikas* and other subjects, forbidding the slaughter of living being on the 8th, 11 and 14th days of both the fortnights of every month in the three towns (Kirāṭakūpa, Lāṭarhada and śivā) named above and threatening with capital punishment those who killed or caused others to kill living being. The Brahmaṇa priests, ministers and other were also ordered to respect this edict of non-slaughter. But this measure related with the prohibition of the slaughter of animals could not have had any permanent effect as during Marco Polo's visit (13th century A.D.). Gujarat was known as a famous leather and hide producing country.[25]

Kumārapāla is credited with the erection of a large number of Jaina *vihāras* and 1400 temples across the country. Unfortunately we have only one epigraphic records for a small temple. The Jalor stone Inscription of Samar Simhadeva, dated Vikram Samvat 1242[26] speaks of a certain temple as having been built and consigned in the (*vikrama*) year 1221 to the care of Devāchārya for the dissemination of the true Jaina Law (*sad-vidhi*). The temple was known as *kuvara-vihāra* and contained the principle image (*mūla-biṁba*) of Parśvanātha. The temple had been constructed by the Mahārājādhirāja Chaulukya kumārpāla, the devout worshipper of ten *Arhats* (*paramārhata*), the lord of the Gurjara Country after being enlightened by Prabhu Hemasūri, upon the fort of *Kaṁchanagiri* belonging to Jabalipur i.e. Jalor. Thus it was called *Kuvaravihāra* after the Solanki ruler Kumārpāla. Merutunga refers to two other temples built

by Kumārpāla at the places related with life of Hemchandra.[27] The figure of temple given by the scholars that may be exaggerated but it is certain that Kumārpāla built a large number of temples to propagate the faith. Solanki ruler Ajayapāla succeded Kumārapāla on the throne of Gurjara country but his time was the period of revival of the worship of Brahmanical deities.

Though Jainism lost the royal patronage in Gurjara land yet the support it received from Vastupāla, Tejahpāla and Jagadu, the rich merchants of the region, helped the sect flourish immensly. Jagadu undertook various works of charity during the famine which lasted for three years, his deeds helped in popularing Jainism during the period, while Vāstupāla and Tejaḥpāla were eminent members of the Jaina church and they raised monuments to prophecise their faith on the lofty heights of Abu and Girnar. The epigarphic evidence testify to the fact that a large number of Jaina shrines were erected by these two merchant minister brothes. The Girnar temple built by Vāstupāla to increase his own merit and that of his wife enshrines the statues of nineteenth *Tīrthaṅkara* Mallināth in the centre and the two shrines on the sides are of Sumeru and Sameta Shikhara. The Jaina inscriptions at the temple of Nemināth on Mount Ābu[28] contains the official records of the erection of the temple of Nemināth by Tejaḥpāla and regulations for the festivals connected with it and for the protection and maintenance of the building. The record of the erection of the building is followed by that of its consecration by Vijayasenashri. In a subsequent clause it is stipulated that the five *kalyāṇikās* of Nemināthadeva i.e. the feast on the anniversaries of the conception, birth, initiation, enlightenment and final deliverance of the saint are to be celebrated annually on the fixed days by all the laymen (*śrāvka*) residing at Deulavāḍa on the holy mountain Arbuda. There are thirty two inscriptions in this temple which contain valuable historical information. Both the brothers have been accredited with the erection of large number of temples and public building over the following places :- Aṇahilapāṭaka, Stambhatīrtha (cambay), Dhava lakka (Dholka), Śaturanjaya, Pāḍalipatapura (Palitānā), Stambhana (Skamma), Ujjayanta (Girnar), Dharbhavatī (Dabhol), Arbuda (Abu), Arkapālita-grām (Ankavalīya). Girnar epigraph ascribes one crore of new temples built by the two brothers and *Prabandhas* mention three hundred crores were spent on these constructions.

The epigraphic evidence[29] records *pañka kalyāṇikā*, *Ashṭahikā*, Birthday of Rishabhnath and *Chandrāyaṇa* were the jaina festival observed by the followers.

The above survey clearly brings out that though no Paramāra, Chandella or Solanki ruler was a follower of jainism yet the sect received immense royal patronage from the rulers of these dynasties which helped in the dissemination of Jainism and it made it roots so deeply in the Central and Western regions of India where it exists as a strong religious force even upto the present day.

References :

1. Archaeological Survey of India Report. 1908-09, p. 100ff
2. Epigraphia Indica, IV, pp. 309-10.
3. Gupte, R.S. Iconography of the Hindus Buddhists and Jainas, pp. 178, D.B. Taraporevala Sons & Co. private Ltd., Bombay 1972.
4. EI, IX, p. 277 ff.
5. EI, Vol. I, (1888) pp. 135ff...... Dāṅ(dhaṅ) garājena Mānyah (:) praṇmati Jinanāthoyaṁ/ bhavyapāhilanāmā(II)1/Pāhilvātika/Chandravātikā/ Laghuchandravātika saṁ (śaṅ) karavatikā pañcāitalavāṭikā āmaravaṭikā dha (dhaṅ) gavāḍī//pāhillavaṁse (śe) tu kṣaya kṣīṇė.....
6. Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol VII, pt. 3, p.366.......ru(rū)paṁ srė (śrė) yaskaraṁ sāṁ (śāṁ) tervvāsvendukṛtastuti/ srė (śrė) ṣṭhipāhiljījūbhyāṁ bhaktyėdaṁ kāritaṁ bhuvi/....
7. Ibid, Vol. VII, pt.3. p. 412.... sambhavanāthaṁ praṇaṁ (ṇa)ṁati nityaṁ (tyaṁ) maṅgalam mahāśriḥ (:) //
8. R.S. Gupte. op. cit. p. 177.
9. Ibid, Vol. VII, pt. 3 p. 457, II. 3,4,5..... śriśānticaitya-yo diṣtyānandapurėparaḥ para (va) rānadapradaḥ śrimatā/ Yena śrīmadane sa (śa) sāgarpurė tajjanmano nirmmime sīyaṁ śresthivaristha galhana iti sriralha (na) khyad bhuta//tasmadajayata kulamba (mba) rapurnnacandvan srijahadastadanujo Dayacandranama//
10. Epigraphia Indica, Vol II (1894), p. 232 ff...... (oṁ) namo Vītarāgāya//..... Riṣabhasvāmi śriye stātsatā (ṁ) //................ Saṁsārgragada cchhidestu sa mam śrisāṁ (śāṁ) tināthо jinahḥ..... sarvvajanasya pātu vipadaścandraprabhorhansa naḥ//.......... aṅtastamopaho vostu gotamo munistamaḥ//................ti khyātiṁ jagāma jayatu sru (śru) tasevatā sā//...
11. CII, Vol. VII. pt. 3, 561 ff.
12. EI, xix, 1927-28, p.69-75, 1.9-11.....sāmanta Gaṅgakulatilaka-bhūtoḥ śrī a(mma) rāṇekena sve (śve) tāmbar-sri-Ammadevacārya mukhākhyāta dḥarmmādharmmāgama-vākya-pravo- (bo) dhita-----
13. EI, xxxv, p.185 1.1,2.... rāja parameśwar Bhojadevaḥ.... raḥ sā (ga) ranandi nāmā/sa ne(mi) can (da) ro vidadhe pratiṣṭāṁ sudurlabhaḥ sāti jinasya muri//

14. EI, xxxi, p.81-86.... sī (śi) lāśrī sūtradhāriṇa/śanti (ku)nthū (thva) ranāma (ma) no joyantu ghtiā jināḥ//
15. Corpus Inscriptionum Indicarum, vol. vii, pt. 2, p.315ff
16. Op cit. p. 303-04
17. A.K. Majumdar, Chaulukyas of Gujarat, p. 310
18. EI, vi, p. 285
19. EI, xxii, p. 64
20. EI, I, p.319 ff
21. Prabandhcintamaṇi 103
22. Dvayāśrayakāvya, xv,vv. 60-96.
23. A.K. Majumdar, op.cit. Bhartiya Vidhya Bhawan, 1956, p. 315
24. EI, xi, p. 45 ll. 10ff.... nagartravepi ji (va) (ja?) ca vyatikramya jīvānāṁ vadha kāryati karoti vā sa vyāpā ācandrārka yāvat kenāpi na lopanīyaṁ/....
25. Loc. cit.
26. EI, xi, p. 55ll. 2.3..... Chaullakya mahārājadhirājaśri (ku)mārpāladeva kārite śri (pa) (rśā) nāth satkamū (la) bimbasahitaśri kuvaravihārā bhidhāne jainachaityė (1).......
27. PCT, 133, 143, 146.
28. EI, VIII, p. 200 ff
29. Loc. cit.

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

प्रारम्भिक मुद्राओं तथा सिक्कों पर शैव-वैष्णव समन्वय

डा. क्षेत्रपाल गंगवार,

जहाँ सिक्के शाासन द्वारा निर्गत होते हैं, मुद्राओं का सम्बन्ध राज परिवार के अतिरिक्त, शासकीय अधिकारियों एवं प्रशासकों के साथ मन्दिरों, मठों, आर्थिक एवं शैक्षणिक संगठनों तथा प्रमुख व्यक्तियों से रहा है। मुद्राओं पर जहाँ वृषभ, त्रिशूल आदि शैव, वहीं गरुड़ चक्र आदि वैष्णव अभिधान मिलते हैं। गुप्त शासकों की मुद्राओं पर गरुड़ का अंकन विशेष रूप से मिलता है, जबकि तत्कालीन अधिकारियों की मुद्राओं पर लक्ष्मी और विशेष रूप से गजलक्ष्मी का अंकन है।

सिन्धुघाटी में उपलब्ध भारत के प्राचीनतम अवशेषों के आधार पर सैन्धव सभ्यता को शैव माना गया है, जहाँ लिंग सदृश उपकरणों को भारतीय तथा विदेशी प्रायः समस्त विद्वानों ने शिव का ही प्रतीक माना है। इनके अतिरिक्त वहाँ की कुछ मृण्मुद्राओं पर निरुपित दृश्यों को पूर्णतया शिव से सम्बद्ध कर दिया गया है। एक मृण्मुद्रा पर अंकित दृश्य में वृषभ या त्रिशूल सहित एक स्तम्भ है और कोई पुरुष इसकी ओर मुख किये खड़ा है। पुरुष के सम्मुख द्विखण्डी भवन है। भवन को मन्दिर और संलग्न प्रतीकों के कारण मानवाकृति को शिव माना गया है।[1] रामचन्द्र दीक्षितार के अनुसार एक मुद्रा पर प्रदर्शित धनुषधारी व्यक्ति शिव का शिकारी रूप है।[2] मृण्मुद्राओं पर प्रायः निरुपित वृषभ के विषय में डॉ. सतीशचन्द्र काला का मत है कि वह सिन्धु प्रान्त में शिव का वाहन माना जाता था।[3]

सिन्धुघाटी की बहुचर्चित मृण्मुद्रा पशुपति वाली है, जिस पर एक योगासीन व्यक्ति के दक्षिण पार्श्व में व्याघ्र व हाथी तथा वाम पार्श्व में महिष व गैंडा तथा नीचे द्विश्रृंगी मृग प्रदर्शित है। केन्द्रीय आकृति कलाई से बाजुओं तक भुजबन्ध धारण किये है, जिसकी शिरोभूषा में दो श्रृंग संलग्न हैं। वक्ष पर त्रिकोण के ढंग का आभूषण है, जो कई लड़ियों को जोड़कर बनाया गया है। ऊर्ध्वलिंगी आकृति त्रिमुखी प्रतीत होती है। यह भी सम्भावना है कि वह चतुर्मुखी हो और चौथा मुख पीछे छिप गया हो।[3] यह शिव का पशुपति रूप कहा जाता है।[4] शिव के त्रयम्बक नाम का 'तीन माताओं वाला देवता' अर्थ लेते हुए इसे तीन देवों जिनकी अलग-अलग माताएँ थीं का समन्वित रूप भी बताया गया है।[5] परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना मात्र लगती है।

शिव एवं शैव प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ लोगों ने सैन्धव मुद्राओं पर वैष्णव प्रतीकों को भी खोजा है। वत्स के अनुसार एक मृण्मुद्रा पर बायीं ओर सिर करके एक पक्षी उड़ता दिखाया गया है, जिसकी पूँछ तथा पंख गहरी खुदी रेखाओं से प्रदर्शित हैं। पंखों के ऊपर दोनों ओर दो साँप हैं। यह पक्षी प्रागैतिहासिक युग के भगवान विष्णु का वाहन गरुड़ कहा गया है।[6] एक मृण्मुद्रा पर प्रदर्शित सिंह एवं मानव की संयुक्त आकृति को डी.डी. कोसाम्बी ने विष्णु के नृसिंह अवतार का पूर्व-रूप[7] (PROTOTYPE) और डॉ. प्राणनाथ ने नृसिंहावतार ही मानते हुए मुद्रा को ईश-ईश-रक्ष-क (भगवान रक्षक) अभिलिखित बताया है।[8] कोसाम्बी ने मेसोपोटामिया की एक मृण्मुद्रा पर निरुपित मत्स्य एवं मानव के संयुक्त रूप को भारतीय मत्स्य अवतार का पूर्व-रूप सिद्ध किया है।[9] एक

इण्डो–सुमेरियन मृण्मुद्रा पर हर अथवा हरि अभिलेख भी पढ़ा गया है।[10] इनमें से हरि–द्योतक चिहन लगभग बीस और हर–द्योतक मात्र तीन मुद्राओं पर मिलता है।[11]

ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल में शक–कुषाण शासक भारत में आकर शैव धर्म से प्रभावित हुए थे, क्योंकि विम कैडफिसेस (पहली शती ई.) ने अपने सिक्कों पर शिव की आकृति को निरूपित कराया है।[12] यहाँ स्थानक शिव दक्षिण कर में त्रिशूल धारण किये हैं। एक सिक्के पर शिव का वाहन वृषभ पार्श्व में खड़ा है और दूसरे में वे त्रिशूल के अतिरिक्त कमण्डलु तथा व्याघ्र चर्म धारण किये हैं। इन सिक्कों के लेख में उसने स्वयं को 'महीश्वरस्य' उपाधि से भी विभूषित किया है।[13] राष्ट्रीय संग्रहालय के स्वर्ण सिक्के (पं.सं. 60.1165/3888) पर त्रिशूलधारी स्थानक शिव के पीछे नन्दी खड़ा है।

कुषाण शासक कनिष्क (पहली शती ई.) के मुद्रा–लेख से ज्ञात होता है कि उस बौद्ध शासक ने हिन्दू शिव, यूनानी अरदोक्षा आदि, ईरानी मित्र आदि तथा बुद्ध को अपने सिक्कों पर एक साथ स्थान दिया था।[14] इन सिक्कों पर चतुर्भुजी शिव त्रिशूल, डमरू, कमण्डलु तथा पाश ध ारण किये हैं। उनके सिर पर आभा मण्डल भी है। इन पर यूनानी लिपि में शिव का ईश नाम (Ohpo) भी अभिलिखित है।[15] कुछ सिक्कों पर शिव के पार्श्व में एक मृग भी खड़ा है।[16] और कुछ पर उनको त्रिशूल एवं कमण्डलु धारण किये मात्र द्विभुजी दिखाया है।[17] राष्ट्रीय संग्रहालय के स्वर्ण सिक्के (पं.सं. 60–1165/3901) पर स्थानक शिव को चतुर्भुजी निरूपित किया है, जो एक हाथ में मृग धारण किये हैं।

इसी समय से शिव और विष्णु का समन्वयात्मक रूप भी परिलक्षित होने लगता है, क्योंकि कनिष्क के ही कुछ ताम्र सिक्कों पर दक्षिण कर में शक्ति या दण्डधारी शिव को वाम कर गदाधारी दिखाया है।[18] राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त एक खण्डित गोल मृण्मृद्रा पर 'राज्ञो अभयस्य' अभिलेखन के साथ मध्य में त्रिवक्री प्रतीक और वाम पार्श्व में वृषभ के अतिरिक्त चक्र, शंख एवं शक्ति के भी चिह्न हैं। बनर्जी ने लेख को ब्राह्मी संरचना के आधार पर इसे पहली–दूसरी शती ईसवी का माना है।[19]

आगे हुविष्क के सिक्कों पर शिव द्विभुजी एवं चतुर्भुजी दोनों रूपों में प्रदर्शित हैं। इन पर प्रायः यूनानी लिपि में ईश अभिलिखित है, जबकि कुछ सिक्कों पर वे हिरन के सींगों पर हाथ भी रखे हैं। एक सिक्के पर वे शशांक भूषित हैं[20] और अन्य पर वे धनुर्धारी रूप में प्रदर्शित हैं।[21] कुछ स्वर्ण सिक्कों पर त्रिमुखी एवं चतुर्भुजी शिव दक्षिण करों में वज्र व कमण्डलु तथा वाम करों में त्रिशूल व गदा धारण किये मिलते हैं।[22]

हुविष्क के एक स्वर्ण सिक्के पर शिव और विष्णु का समन्वित रूप मिलता है, जिसे गार्डनर ने किंचित् अवनत अवस्था में खड़े ऊर्ध्वलिंगी त्रिमुखी शिव माना है, जो कटि मात्र में परिधान धारण किये छाग, चक्र, त्रिशूल एवं वज्र धारण किये है।[23] इनमें से त्रिशूल (स्वाभाविक वाम), वज्र (अतिरिक्त वाम) और चक्र (अतिरिक्त दक्षिण) तो स्पष्ट हैं, परन्तु स्वाभाविक दक्षिण का छाग अस्पष्ट है, जो शिव

की उत्तरकालीन प्रतिमाओं में मिलने वाला कृष्ण मृग भी हो सकता है। निःसन्देह आकृति त्रिमुखी एवं शिरश्चक्रयुक्त है। यहाँ शिव का ऊर्ध्वलिंगत्व उल्लेखनीय है, जो उत्तर–कुषाण से परवर्ती शिव प्रतिमाओं में प्रायः मिलता है। किसी सिक्के पर शिव का ऊर्ध्वलिंगत्व सर्वप्रथम यहीं प्रदर्शित है। डॉ. यदुवंशी ने इसे त्रिमूर्ति शिव मानते हुए सम्भावना व्यक्त की है कि यह शिव का चतुर्मुखी स्वरूप भी हो सकता है, जिसमें चौथा मुख छिप गया है।[24] परन्तु चक्र का उन्होंने उल्लेख भी नहीं किया है, जो वैष्णव प्रतीक है। वास्तव में यह शिव और विष्णु का संयुक्त रूप हरिहर है, जिसे हरिहर की उत्तरकालीन समन्वित प्रतिमाओं का आदि रूप कहा जाना चाहिए।[25] समन्वय की यही भावना स्मार्त सम्प्रदाय की पंचदेव उपासना का आदि–स्रोत भी कहीं जा सकती है।

गुप्त काल में ऐसी बहुत–सी मुद्राएँ मिली हैं, जो शिव और विष्णु के समन्वित स्वरूप हरिहर की द्योतक हैं। यह वह अवधि है, जब से हरिहर की प्रतिमाएँ प्रचुरता से उपलब्ध होने लगती हैं। डॉ. विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह ने वैशाली की एक ऐसी मुद्रा का उल्लेख किया है, जिस पर मध्य में त्रिशूल के दक्षिण पार्श्व में एक दण्ड, शंख व चक्र तथा वाम पार्श्व में चन्द्र एवं पहिया सदृश एक चिह्न है। वह मध्य में त्रिशुल की उपस्थिति को 'गड़बड़' मानते हुए भी इसे शैव और वैष्णव धर्म के सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध का द्योतक मानते हैं।[26] वैशाली की ही दो अन्य मृण्मुद्राओं में वेदी पर चक्र तथा दोनों पार्श्वों में शंख प्रदर्शित हैं। साथ ही अभिलेख में अनन्त (विष्णु) एवं अम्बा की विजय का उल्लेख है। वहीं की एक अन्य मृण्मुद्रा में वेदी पर श्रीवत्स और दोनों पार्श्वों में शंख हैं। अभिलेख है–नन्देश्वरी के स्वामी अनन्त की जय हो।[27] पटना संग्रहालय की 'रुद्रदेवस्य' अभिलिखित एक मुद्रा (पं.सं. 1046) पर वृष और शंख एक साथ निरुपित हैं,[28] जो शैव–वैष्णव समन्वय के प्रतीक है।

वैशाली के अतिरिक्त राजघाट (वाराणसी) से ऐसी मुद्रित मुद्राएँ (सीलिंग) प्राप्त हुई हैं, जिन पर पीठिका में लिंग प्रदर्शित है।[29] वहीं की एक मृण्मुद्रा पर दो गजों से अभिषिक्त तथा प्रभामण्डल युक्त आसनस्थ लक्ष्मी का अंकन है।[30] मध्यप्रदेश से भी गजलक्ष्मी उत्कीर्ण पाँचवीं शती ई. की एक मृण्मुद्रा प्राप्त हुई है।[31]

मार्शल द्वारा वर्णित भीटा की चवालीसवीं मुद्रा पर सम्मुखाभिमुख वृषभ खड़ा है, जिसके श्रृंगों के मध्य गोल वस्तु प्रदर्शित है[32] मुख्य लांछन के पार्श्व में चक्र तथा मार्शल के अनुसार 'एक सन्दिग्ध प्रतीक' है। इन प्रतीकों की पवित्रता इसी से सिद्ध हो जाती है कि वे तीनों पीठिकाओं पर रखे हैं। मुद्रा पर अभिलेख है–दण्डनायक भी शंकरदत्तस्य। निःसन्देह नाम शैव है, अतः मुद्रा–स्वामी की मुद्रा के मध्य में शिव प्रतीक होना पूर्ण स्वाभाविक है, परन्तु विष्णु की प्रति उपास्य भाव होने के कारण उसने उनके प्रतीक चक्र को भी सम्माननीय– यद्यपि गौण–स्थान प्रदान किया है। बनर्जी ने मार्शल के सन्दिग्ध प्रतीक को वैष्णव माना है, परन्तु उसका नाम नहीं दिया है।[33]

कनिंघम ने न्युमिस्मेटिक क्रॉनिकल में जिस निकोलो मुद्रा का उल्लेख किया है, उसका विवरण प्रामाणिक एवं यथार्थ नहीं है। वह लिखता है कि मुद्रा पर दोनों पार्श्वों में दोनों हाथ जोड़े कुषाण शासक (शिरोभूषा एवं परिधान के आधार पर हुविष्क) चतुर्भुजी विष्णु के सम्मुख खड़ा है। देवता

(गाड़ी के पहिये जैसा) चक्र, गदा, वलय सदृश वस्तु एवं एक अन्य उपकरण धारण किये है।[34] कनिंघम ने चतुर्भुजी आकृति को गदा एवं चक्र के आधार पर विष्णु बता दिया है। वह पार्श्विक लेख को नहीं पढ़ सका, जो आर. गर्ब्समैन के अनुसार ग्रीक लिपि के अत्यन्त घसीट रूप तुखारियन लिपि और तुखारियन भाषा में मिहिर (सूर्य का ईरानी रूप), विष्णु एवं शिव लिखा है। परिधान एवं लक्षणों के ही आधार पर गर्समैन ने उपासक को हूण शासक माना है।[35] इस प्रकार प्रस्तुत मुद्रा का समय हुविष्क से दो–तीन शताब्दी परवर्ती होगा, क्योंकि श्वेत हूणों ने 480–550 ई. में भारत पर आक्रमण किया था। प्रस्तुत आकृति में मिहिर विदेशी देवता है, अतः उसके अतिरिक्त यह भारतीय शिव एवं विष्णु का समन्वय रह जाती है। यह द्रष्टव्य है कि देवता के दक्षिण कर में चक्र तथा वाम कर में गदा है। यह गदा विष्णु की न होकर शिव की है, क्योंकि यह शिवरक्षित की मुद्रा पर प्राप्त शिव की गँठीली गदा जैसी है। धार्मिक दृष्टि से प्रस्तुत मुद्रा हुविष्ककालीन धार्मिक समन्वय का विकास प्रदर्शित करती है। पाँचवीं शती ई. की एक मुद्रा की चार आकृतियों में से गदाधारी हेरेक्लीज, वेदी पर अर्पण करते इण्डो–स्कायथियन प्रमुख तथा नर–नारी के अतिरिक्त त्रिशूल एवं गदाधारी ऊर्ध्वलिंगी स्थानक शिव का भी अंकन है।[36]

इस सन्दर्भ में प्रयाग संग्रहालय की कुछ मुद्राएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। यहाँ अहिच्छत्र से प्राप्त एक ताम्र मुद्रा (सं.ए.एच.1330) पर पाँचवी शती की गुप्तकालीन लिपि में 'वाम–विष्णु' अभिलिखित है। 'वामे विष्णु : यस्यासौ वाम विष्णुः' व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें द्विगु समास है। अर्धनारीश्वर मूर्तियों के समान हरिहर मूर्ति में भी विष्णु सामान्यतः वाम पार्श्व में रहते हैं। इसके अतिरिक्त एकादश रूद्रों में वाम भी सम्मिलित हैं और सम्भव है यहाँ वाम और विष्णु का ही समन्वय अभिप्रेत हो। यह योजना शिव एवं विष्णुवाचक विभिन्न नामों के आधार पर परिकल्पित हुई हो सकती है, जैसे हर अच्युत[37], रुद्र–केशव[38], प्रद्युम्नेश्वर[39] आदि नाम मिलते हैं। इस प्रकार द्विगु समास में विग्रह करने से अर्थ होगा–वाम और विष्णु का समन्वित रूप। मुद्रा पर मात्र हरिहरवाचक अभिलेख होने से ज्ञात होता है कि वह किसी प्रतिष्ठान से सम्बद्ध थी। जिन प्रभ सूरि[40] द्वारा अहिच्छत्र में हरिहर मन्दिर होने का उल्लेख किये जाने से स्पष्ट है कि अहिच्छत्र की प्रस्तुत ताम्र–मुद्रा उसी मन्दिर से सम्बद्ध थी। सुनेत से प्राप्त दो अन्य मुद्रित (सीलिंग) मृण्मुद्राओं (संख्या 26 तथा 271) पर 'शंकरनारायणाभ्यां' अभिलेख है। इन पर भी अन्य कोई चिह्न न होने से उनका शंकरनारायण (हरिहर) के देवालय से सम्बद्ध होना प्रमाणित होता है।

इण्डियन म्युजियम में सुनेत की ऐसी लगभग दो दर्जन मुद्राएँ है,[41] जिन पर एक ओर 'शंकर नारायणाभ्यां' और दूसरी ओर व्यक्तिनाम अंकित हैं।[42] ऐसा प्रतीत होता है कि इन मुद्राओं का वितरण तत्कालीन हरिहर के उपासकों को किया जाता था, जो इन्हें धार्मिक प्रतीक के रूप में रखते थे। वहीं की एक मुद्रा (इण्डियन म्युजियम, सं. ए. 2832–एन एस 4624) पर ऊपर त्रिशूल तथा चक्र और नीचे गुप्तकालीन लिपि में 'द्विपार्षदस्य' अभिलिखित है। संस्कृत में पार्षद का अर्थ सहयोगी या सेवक है और आयुधों को देवाकृति के पार्श्वों में सेवक के रूप में मानवाकार प्रदर्शित किया जाता है। अतः द्विपार्षद का अभिप्राय त्रिशूल और चक्र से है, जो शिव और विष्णु के आयुध हैं। इस प्रकार

यह मुद्रा भी हरिहर मन्दिर से सम्बद्ध रही होगी। देवेन्द्र हाण्डा ने सुनेत की एक ऐसी मुद्रा का भी उल्लेख किया है, जिस पर गुप्तकालीन लिपि में मात्र 'श्री द्विपार्षदस्य' अंकित है। द्विपार्षद से जय–विजय को अभिप्रेत मानकर हाण्डा ने इसे विष्णु मन्दिर से सम्बद्ध किया है,[43] जबकि वहीं से प्राप्त ऐसा ही अभिलिखित अन्य मुद्रा के आधार पर यह विचार तर्कसंगत नहीं है।

गुप्तकाल की ही नालन्दा से प्राप्त एक मृण्मुद्रा पर हरिहर का अंकन है, जहाँ देवाकृति दक्षिण कर में त्रिशूल तथा वाम कर में चक्र धारण किये हैं।[44]

□□

संदर्भ :

1. आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक विवरण 1930–1940 ई., पृ. 63–64;
2. मोहन–जोदड़ो तथा सिन्धु सभ्यता, पृ. 94;
3. मोहन–जोदड़ो तथा सिन्धु सभ्यता, पृ. 112;

4.a मोहन–जोदड़ो तथा सिन्धु सभ्यता, पृ. 94;

4.b आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक विवरण 1928–29, पृ. 74; हिस्ट्री ऑफ हिन्दू सिविलिजेशन, पृ. 20, जर्नल ऑफ दि एसियाटिक सोसायटी, भाग 21, अंक 2 (1955 ई.), पृ. 85 आदि,

5. जर्नल इण्डिया सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट (अगस्त–दिसम्बर, 1937), पृ. 75;
6. एक्सकैवेशन्स ऐट हड़प्पा, पृ. 303;
7. कल्चर एण्ड सिविलिजेशन ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, चित्र 50;
8. डेसिफर्मेण्ट ऑफ हड़प्पा एण्ड मोहन–जोदड़ो इन्स्क्रिप्शन, पृ. 16;
9. कल्चर एण्ड सिविलिजेशन ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, चित्र 51;
10. इण्डो–सुमेरियन सील्स डेसिफर्ड, मुद्रा सं. 8, पृ. 70;
11. मोहन–जोदड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, भाग 3, फलक 15–164;
12. लाहौर म्युजियम कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स, (व्हाइटहेड), फलक 17, सं. 31, 33, 36 तथा कलकत्ता म्युजियम कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स (स्मिथ), फलक 68, सं. 1–2;
13. महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महीश्वरस मि कदफिसस मदर, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. 48;
14. डॉ. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. 48,
15. लाहौर म्युजियम कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स (व्हाइटहेड), फलक 70, सं. 65; फलक 18, संख्या 106–108;
16. कलकत्ता म्युजियम कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स (स्मिथ), फलक 70, सं. 9–10, तथा फलक 74, सं. 64–77;
17. लाहौर म्युजियम कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स (व्हाइटहेड), फलक 18, सं. 110–114;
18. डेवलेपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी, पृ. 122;
19. उक्त, पृ. 188;
20. कलकत्ता म्युजियम कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स (स्मिथ), फलक, 80, सं. 31;

21. उक्त, फलक 80, सं. 46;
22. डेवलेपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी, पृ. 123, फलक 9, चित्र 16;
23. ब्रिटिश म्युजियम कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स ऑफ दि, ग्रीक एण्ड स्काइथिक किंग्स ऑफ इण्डिया, फलक 28, चित्र 16 तथा विवरण, पृ. 148;
24. डॉ. यदुवंशी, शैवमत, पृ. 92;
25. डेवलेपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी, पृ. 123–124; 544 तथा सेमिनार ऑन इण्डियन आर्ट हिस्ट्री (1962 ई. भारतीय ललित कला अकादमी, नयी दिल्ली, पृ. 82;
26. भारतीय कला को बिहार की देन, पृ. 173;
27. आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ए.आर. 1930–34, पृ. 110–11 तथा एलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी (गोपीनाथ राव), पृ. 204–6;
28. संग्रहालय के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त का 26 मई, 1967 का लेखक को पत्र;
29. किरणकुमार थपलियाल, स्टडीज इन ऐन्शिएण्ट इण्डियन सील्स, पृ. 204,
30. आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐन्युल रिपोर्ट 1913–14, सं. 93,
31. मध्य प्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ, पृ. 457–58;
32. आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक विवरण 1911–12;
33. डेवलेपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी, पृ. 185;
34. न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, 1893 ई., पृ. 126–27, फलक 10, चित्र2;
35. LES CHIONITES HAPHTALITES, पृ. 55–58, चित्र 65 तथा फलक 7, चित्र 1;
36. रोजेनफील्ड, डायनेस्टिक आर्ट्स ऑफ दि कुषाण्स, पृ. 103, सं. 6,
37. दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, भाग 4, पृ. 145;
38. अग्निपुराण 49/25;
39. वैन्यगुप्त का गुणैधर ताम्रपत्र लेख तथा विजयसेन का देवपाड़ा शिलालेख;
40. सिन्धी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित विविध तीर्थकल्प, पृ. 14,19;
41. लेखक को झज्झर (रोहतक) आश्रम के आचार्य ने 1968 में बताया था कि पंजाब में इस प्रकार की मुद्राएँ प्रचुरता से मिली हैं, जो उस काल में वहाँ हरिहर उपासना के बहु–प्रचलन का प्रमाण हैं।
42. सं. ए–12850; एन एस–4651 पर श्री मातृसोम; ए–12849, एन एस. 4650 पर श्री विष्णुदासस्य तथा ए 12848, ए–12851; एन एस–4640, एन.एस–4652 पर मान्यः अंकित है।
43. स्टडीज इन इण्डियन क्वाइन्स एण्ड सील्स, पृ. 86;
44. मेम्वायर्स ऑफ आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया–66, फलक 3 तथा एल.एस.बंगदेल, दि अर्ली स्कल्पचर्स ऑफ नेपाल, पृ. 73;

□□

Egyptian Mummies In Indian Museums, their Biodeteriorating factors, Conservation measures : Special Reference to State Museum Lucknow

Al Shaz Fatmi,

Abstract:

Egyptian mummies, a unique artefact are conserved only in few of the Eminent Indian Museums. Present status of conservation, restoration, and display as well as the effect of biotic and abiotic factors responsible for biodeterioration of mummies are discussed. For the purpose many related research papers are consulted and their findings as well as recommendations are mentioned. Among all biotic and abiotic factors Oxygen was found most important deteriorating factor responsible for biodeterioration, because of mummy's organic nature. Thus it concluded the need to display Mummy's in oxygen free chamber. A Hermetically Sealed Display and Storage Case is recommended for the purpose as they were found efficient and well equipped for long term preservation of mummies in the developing countries like India also.

INTRODUCTION:

Ancient Egyptian, Chinese and South American civilizations witness the mummified remains of human and animals. Through various ways these mummies were formed, some of them by accidently buried down under barren desert or ice while, others through proper mummification process. Thousands of year old mummies, chemically treated and wrapped in linen cloth, reveal the history that lies behind it. The mummies get transported throughout the world either as a gift or through purchase. Fortunately State Museum Lucknow, Uttar Pradesh harbours such a unique artefact, belonging to Egyptian Civilization. And other Indian Museums possessing mummy in their collection are as follows: Indian Museum Kolkata, West Bengal, Central Government Museum Jaipur, Rajasthan, Chhatrapati Shivaji Maharaj Vastu Sangrahalya, Mumbai (Formerly Prince of Wales Museum) Maharashtra, State Museum Hyderabad, Andhra Pradesh, Baroda Museum and

---

Assistant Director, State Museum, Lucknow.

Picture Gallery Vadodra, Gujrat. Among these above mentioned museums mummy preserved in State Museum Lucknow has been studied thoranghly. For centuries, museums around the world have exhibited human mummified remains placed in the exhibit cases without an initial conservation assessment. Specially designed showcases are required to display these mummies for their long-term survival. Because most of the mummies are around 3000 yr old and getting decomposed day by day due to their organic nature. Biodeterioration is supposed to be a major factor for decomposition and if not restored on time, it will be a great loss of Cultural Heritage.

METHODS AND MATERIAL USED:

For the purpose related books, websites and research papers are consulted and their findings as well as recommendations are mentioned. Author has studied Mummy of State Museum Lucknow personally and noticed its condition and conservation status which encouraged her further to study the actual factors of biodeterioration of Egyptian mummies. Mummies got prepared after a long rigorous process of mummification. The 21st dynasty is considered as the golden period of mummification after which the process of mummification gradually degraded. We get little information about the techniques of mummification from Egyptian literature, so we have to rely for our knowledge chiefly upon modern scientific investigation and the evidences of the classical historians Herodotus and Diodorus. According to Herodotus three distinct methods were practiced in his days, depending on the status of the dead.

In the first and the most expensive method, brain was removed through nostrils, then entrails were taken out through an incision in the planks, and the abdomen was purified by means of palm wine and incense. The body was then steeped in natron for seventy days, after which it was wrapped up in linen bandages smeared with gum. In the second and cheaper method flesh and entrails were removed by injecting Cedar oil through the anas leaving only skin and the bone. In the third and cheapest method, the body was merely washed out with purgative, soaked in *natron* for seventy days and wrapped in bandages. Three fold motives of mummification were: preservation of body from decomposition, maintenance of personal identity and the creation of a form resembling to that of God Osiris after his embalmment. This entire requirement

had to be satisfied in order to ensure the survival of the dead in the next world [6]. Scientific researches have revealed the use of following agents for the process of mummification.

Body-cleansing agent- **Palm wine** provides a mechanical cleansing effect and antibacterial influence. ***Myrrh*** is a gum resin used to wipe the inside of the body cavity walls.

Body- desiccating agent- **Natron** is a naturally occurring mixture of salts in which sodium carbonate predominates accompanied by lesser amounts of sodium bi-carbonate, sodium sulphate, sodium chloride. It enhanced the further transfer of water through skin and plays central role in desiccation of Egyptian mummies. *Body stuffing material-* **Myrrh** was used as a temporary body stuffing material together with natron which helped in further antibacterial action. **Frankincense,** a fragrant aromatic material exhibit antiseptic quality. ***Lichen*** and ***saw dust*** both have absorptive qualities. Following desiccation by natron ***resin*** was used as heated liquid material to paint the body cavity and skin. Sometime it was poured into the excerbrated cranial cavity or mixed with most superficial wrapping of the mummy, permitting the moulding of facial features in Old Kingdom mummies. Resin impregnated linen was also wrapped around desiccated viscera before they were placed in canopic jar or return to the abdomen. The term áKyphiâ has been applied to the use of a mixture of resins poured on top of an already desiccated mummy after it was placed into a coffin for gluing the body to the coffinâs interior. After 300 BC ***Bitumen*** was substituted for resin or used as a diluent. ***Storax*** **a** balsam oleoresin, used as *Anointing materials* [3].

Biodeterioration in Mummies:

Over time, the mummified remains decay in their cases without proper care & maintenance. However, the process of decay can take many years but the result is total loss of integrity within the materials. We need to understand the signs of decomposition, so that we can detect early signs of conservation problems for proper maintenance over time. If we look closely at a mummy on display, we can often see the clues to decomposition like tiny holes in the skin and brownish dust on the floor or unwrapping etc. can be seen [21].

Factors of Biodeterioration:

There are *biotic* and *abiotic factors* that have deteriorating effects on mummies. Among biotic factors microorganisms like fungi, bacteria and insects are important. Proteinaceous materials like parchment, leather and mummified tissues are highly susceptible to aerobic fungal and bacterial growth. Bacteria leave unpleasant stains and visually disagreeable blotches. Proteolytic enzyme producing anaerobic bacteria causes collagen depolymerization and thus loss of object strength and even its integrity [25]. Martinez *et al.* isolated a total of 469 fungal colonies from 12 mummies that presented deterioration attributed to colonizing fungi. Among the isolated species of fungi were *Penicillium sp., Cladosporium sp., Aspergillus sp., etc.* Most of these fungi have the ability to produce various enzymes *viz;* cellulase, amylase, protease, keratinase, etc. leaving deteriorating effect on mummy [18]. Many fungi are able to cause zoonotic superficial infections as a consequence of invading keratinize tissues of skin, hair, and nails [14, 26]. Experiments confirmed the efficiency of some of mummification materials *viz: natron, myrrh, juniperus, cinnamomium, Arabic gum, cassia, mastic resin, benlate, thymol, cedar oil* and *bees wax* to act as biocides [9]. Mummies very often get infected through various *beetles, true flies and cockroaches.* Depending on their habits they could invade mummies either at the time of death, during embalming in the tomb and transportation or even at display in museum. Among these Museum beetle *Anthrenus museorum* Common wood worm *Anobium punctatum* and *Necrobia rufipes* has been found in the sarcophagi of mummies [7].

Major *abiotic factors / environmental parameters* responsible for biodeterioration are oxygen, light, humidity, temperature and pollution. ***Oxygen,*** Russell and Abney in their report Action of Light on Water Colours, concluded that the presence of moisture and oxygen was necessary for a change to occur, indicating that many colorants found in the water colours would fade less when exposed to light in vacuo. Kuhn (1968) demonstrated that improved protection for some light-sensitive art materials (dyes and pigments) could be attained by replacing air with nitrogen. In addition to the benefits of an anoxic environment for retarding the fading of colorants, there have been applications for parchment (collagen), and paper (cellulose) [17].

Deterioration in the Presence of Oxygen:

If the substances that makes up museum objects reacts with oxygen leading to physical and chemical changes which causes brittleness, cracking as well as color fading consequently [11]. The oxygen reacts with the substances like cellulosic (paper, linen, cotton, wood), proteins (parchment, vellum, skin of mummies), and colorants which make up the museum objects. It changes their chemical composition and, subsequently, their physical properties. Thus, the preservation of these objects is aided by excluding oxygen from museum cases in which they are displayed or stored. The chemical complexity of aged natural products does not allow a specific number or quantifiable oxygen concentration to be stated for optimum preservation of these objects. However, a reduction of the oxygen concentration to the lowest that can be achieved, preferably below 1000 ppm, is the most prudent course. In the specific case of materials containing collagen, a range of 25-40% RH has been suggested. Below this level, the chemical and physical stability of collagen is affected [13]. Initial experiments in attacking this serious problem were designed to determine the efficacy of low-oxygen nitrogen atmospheres in killing a well-studied insect, *Drosophila melanogaster,* and then to conduct a practical test by placing an infested museum object in nitrogen under controlled environmental conditions. For the *Drosophila* work, a large number of all of the insect's life forms, eggs, larvae, pupae, and adults were subjected to various combinations of temperature, RH and length of exposure. Results showed complete insect mortality after 80 hours at 25 C, 75% RH, and 0.5% oxygen, 99.5% nitrogen [24].

Rust and Kennedy, examined a large sample population of all of the life forms of the ten species of insects that are considered to be the most common museum pests in the United States and Canada. Using nitrogen-filled test chambers in which the oxygen content was rigorously controlled at less than 0.1% they found that only 72 hours at 25.5 C & 55% RH were required for a complete kill of most developmental stages of most species. However, 192 hours (eight days) were required for total mortality of all egg forms of *Lasioderma serricorne* (cigarette beetle). Therefore, a minimal exposure of ten days in 0.1% oxygen containing nitrogen atmosphere (and 25C, 55% RH) is conservatively advisable to achieve total insect anoxia in museum objects. An important finding

in the work was that an increase in temperature in the anoxia container or chamber from 20 C to 30 C resulted in a marked decrease in the time required for complete mortality [23].

Effects of Pollution:

The mummies in Indian museums are preserved in six different museums and most of them are either metropolitan or commercial city. The air is heavily polluted with oxidants as well as with particulate matter from automotive emissions, both of which are particularly deleterious to organic materials and in some places due to desert condition sand is also serving as pollutant. In present scenario it is the utmost need of time to preserve these mummies in pollution free chambers. Considering the biodeterioration effects the following recommendations are given, based on various research projects and literature reviews:

An oxygen-reduced inert atmosphere of nitrogen at low relative humidity suppresses both biological activity and oxidation in proteinaceous material. The optimal oxygen level is zero; in reality, however, this is impractical, so it should be kept as close to zero as possible.

An ideal temperature range is 10-15 ^{0}C as the lower temperature reduces reaction rates in general and specifically the denaturing of collagen, the major constituent of mummy skin. Lower temperature levels are desirable only if they do not increase humidity variation.

Furthermore, other museological considerations, such as human comfort, make low temperatures undesirable in display and storage rooms. However, it is preferable to keep the temperature as constant and as low as possible.

An ideal relative humidity (RH) level is 30-50%. Values below 25% RH should be avoided owing to the possibility of permanent deformation arising from irreversible dehydration of proteinaceous material. To remove oxygen that may leak into a case containing an inert gas, it is useful to add chemical substances so-called oxygen absorbers that react with oxygen.

The spectral distribution of the light reaching an object should be restricted to the long wave lengths that allow an acceptable appearance without any color

cast. Restricting light wavelength as close as possible to a 400 nm cut off is accomplished through the use of ultraviolet and possibly violet filters, the proper choice of an illuminant, or a combination of the two [19].

The intensity of the lighting should be limited to less than 100 lux for sensitive organic materials. Beside all above recommendations it is utmost need to display object in a well designed modern showcase. Through scientific researches a sealed display or storage case whose internal atmosphere (at the proper RH) consists of an inert gas with very little oxygen has been invented. This type of modern showcase is designed by GCI (Getty Conservation Institute) based in California, which they have named "Hermetically Sealed Display & Storage Case".

DESIGN AND CONSTRUCTION OF THE GCI HERMETICALLY SEALED DISPLAY AND STORAGE CASE:

The basic concept of the inert-gas-filled Hermetically Sealed Display And Storage System designed by the GCI is that it should provide and maintain an anoxic environment (one with greatly reduced oxygen) at a stable relative humidity for stored or displayed objects. The cases should not be dependent on any mechanical or electrical systems. Require little maintenance, no more often than every two years. It should be possible to manufacture and test the cases in developing countries and the cost per case should be kept as low as possible [19].

There are two major approaches, continuous flushing of the case with the inert gas - a dynamic system or the use of a tightly sealed case - *a static system*. For maintaining fixed moisture content in the object the inert gas, flushed through the case must be humidified to match the relative humidity and the gas supply needs to be serviced and replaced periodically. It will require very little maintenance and monitoring if its leakage is kept to an extremely small and consistent rate. If a gallery has little or no climate control, the case's seal needs to be made strong enough to withstand the pressure generated by changes of temperature. The static system is more economic and also had a long term advantage, it required little maintenance over a multiyear period because it had no power supply and no need for periodic or mechanical servicing by skilled electrical technicians.

The display case and its bellows (Fig.B) are hermetically sealed from the surrounding atmosphere and filled with humidity-conditioned nitrogen, which can be monitored for oxygen content and relative humidity without opening the case (Fig.A).
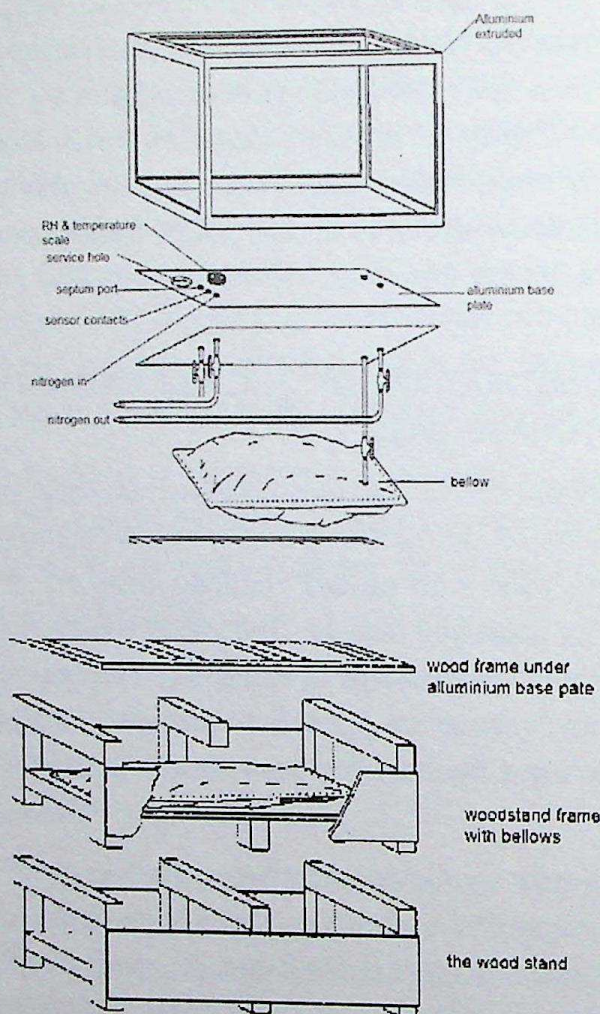
Exploded view of Hermetically sealed Display & Storage Case

Fig. (A) Photograph of prototype hermetically sealed display and storage case built for an Egyptian royal mummy. Photo by T. Moon (Maekawa, S.1998). Child Egyptian Mummy, Nesi, in display at the
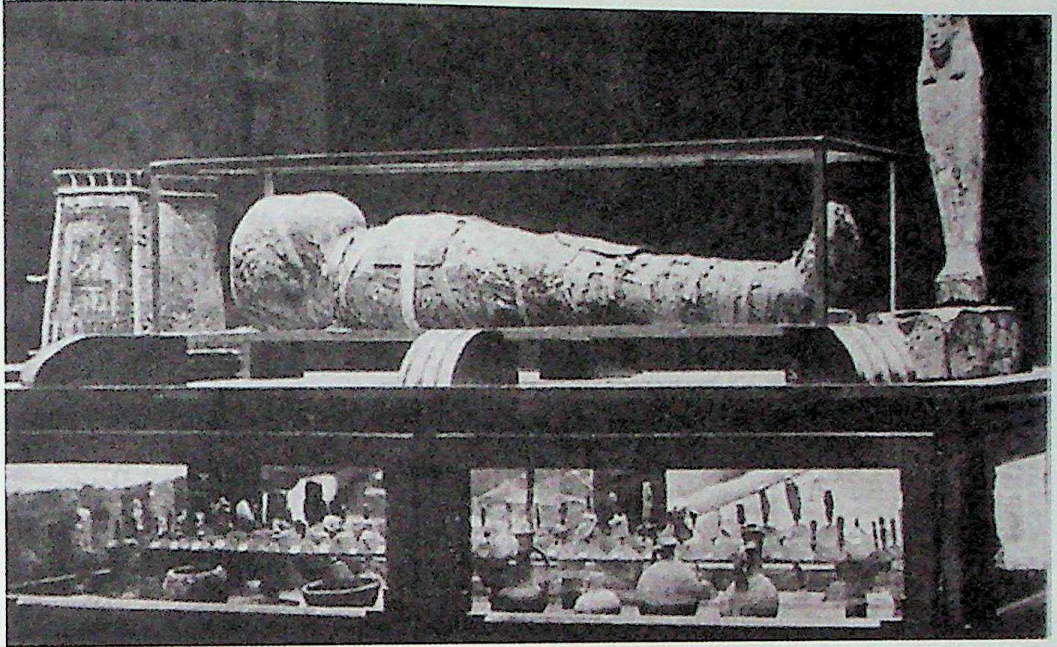
Biblioteca-Museu VŸctor Balaguer, Vilanova I la Geltrú, Spain (glass case typical of the period-1886). Courtesy of Biblioteca-Museu Víctor Balaguer (Maekawa,S. 1998)

The Spanish-built, hermetically sealed display and storage case for the child mummy, Nesi, in the Egyptian gallery at Biblioteca-Museu Víctor Balaguer. (Maekawa. 1998)

A *bellow* can be described as a pillow-shaped structure made of plastic and metal, functions by expanding and contracting during external temperature or barometric fluctuations, thereby preventing any pressure on the seals of the display section (Fig. B).Because of the extremely low leak rate of oxygen into the case, when it is initially filled with nitrogen and contains no more than 0.1% oxygen, less than 2% oxygen will be present as a result of leakage after ten years. If a modest number of packets of *oxygen scavenger* (Fig.C) are inserted into the case, many additional years will elapse before the 2% oxygen level is reached. A RH buffering material, silica gel should be placed in the case to provide a constant RH, compensating for temperature variations and any moisture from the oxygen scavenger or the displayed objects. Activated *carbon packets* can be placed in the case to act as a sorbent for pollutants & volatiles [20]
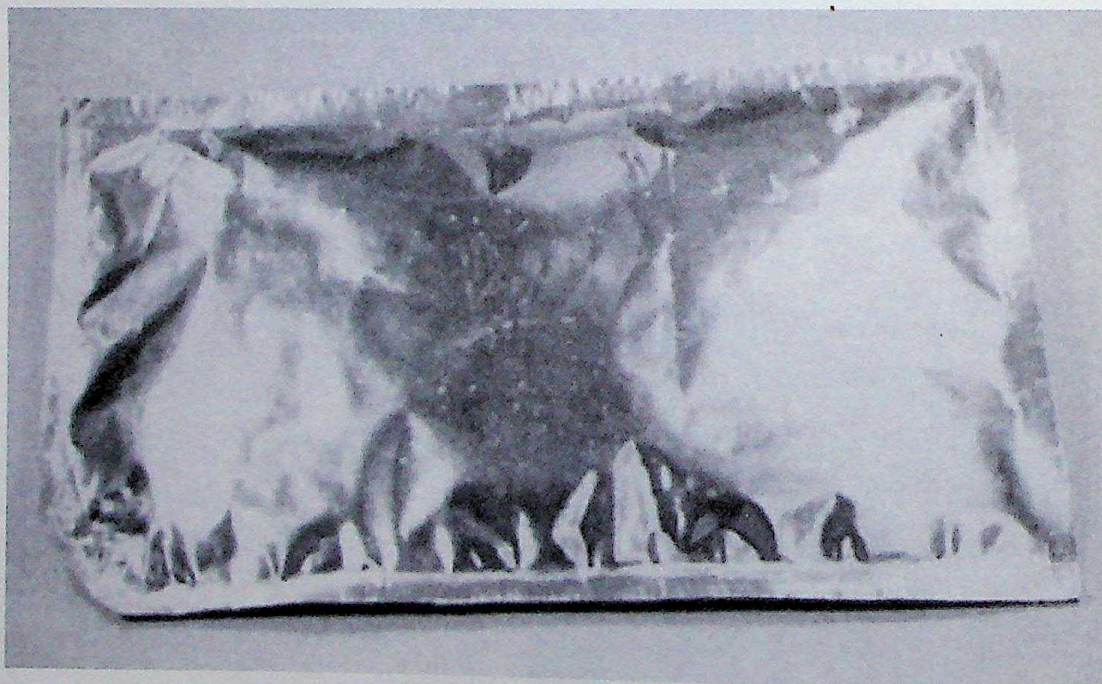
Fig. (B) Aluminum plastic bellows.
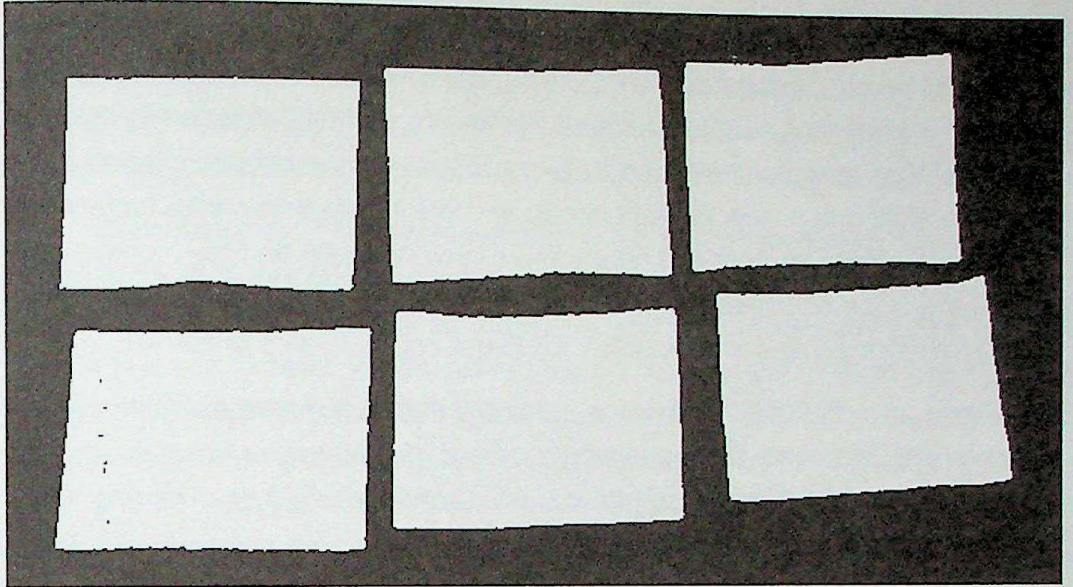
Fig. (C) Oxygen excavenger,

Ageless Exploded view of the Egyptian Antiquities Organisation's version of the Hermetically Sealed Display and Storage Case designed by the Getty Conservation Institute is described in the next discussion. Consist of a structure with an aluminium extruded frame, aluminium base plate consisting of RH and °C scale, service hole, septum port, oxygen sensor contacts and a hole or nitrogen supply. Next to it is a plate to which is connected with pipe for nitrogen exit and entry, followed by a bellow. Base consists of wooden frame under aluminum base, Wood stand frame withbellows and the Wood stand etc. [15]

CONSERVATION STATUS OF MUMMIES IN INDIAN MUSEUMS:

STATE MUSEUM LUCKNOW, UTTAR PRADESH:

The State Museum Lucknow purchased mummy of a 13-year-old girl in 1952 from a UK National J. J. E. Potter, which belongs to dynasty 22-25. A painted wood cover with the decoration over it covers the mummy. The mummy and its mystery has always enchanted the museum visitors. Since the mummy has been acquired by the museum, it is being displayed in a traditional air tight showcase and from time to time remedial conservation measures taken out by the conservation unit of Museum. To maintain constant humidity in the showcase

a layer of silica gel is kept on the floor of the showcase, to avoid any chemical reaction between the mummy and the silica gel a proper distance is maintained by laying mummy on aluminum stand. For its proper maintenance the scientist from NRLC has been contacted recently and on their recommendation the mummy has been shifted to a new air tight showcase. Still the environmental factors like humidity, temperature, light and pollution are gradually affecting the mummy as it is showing signs of unwrapping. It needs expert consultation to take immediate step for restoration and conservation, so that it could be well preserved.

Apart from the mummy there is a painted and gilded wooden Coffin of the Sema-priest Petosiris hailing probably from provenance Akhmim. It was purchased in 1952 from Spinkson, U.K, London originally coming from Marquis of Duffering and Ava collection.

CONCLUSION :

In the light of above discussion it is very clear that most of the mummies in India need immediate restoration and conservation measures. Because of biodeterioration, the organic components of the mummies are being damage gradually, it is somewhere due to lack of expert guidance and modern well equipped showcases.

A *Hermetically Sealed Display and Storage Case* filled with an inert gas, successfully designed, fabricated and tested at Getty Conservation Institute, California is recommended for the better display, conservation and preservation. Maintenance of the case requires no electrical or mechanical system. Because it is relatively easy to build without special tools and requires only a skilled technician for its fabrication, it can be made both in developed and developing countries. Humidity-conditioned nitrogen was used as the inert atmosphere in the first GCI display case; other inert gases such as Argon and Helium can be substituted. The period could be extended to more than twenty years if a modest quantity of oxygen scavenger is introduced after the initial purge.

An experiment for the installation of Hermetically Sealed Display and Storage Case has been conducted in India also. On 27.11.95 the constitution of India (both Hindi and English version) was placed in such special display storage cases in a non-air-conditioned room in the Library of the Parliament House, New

Delhi. After one year of joint testing in-situ by the library, the NPL (the National Physical Laboratory), and the GCI the cases have been accepted as effective for the conservation and display of the Constitution of India. Now it could be said that hermetically sealed cases are suitable for Indian environment also [16].

Because of the complexities involved in mummy-conservation, we need to emphasize on cooperation with experts from Egypt and the British Museum. The technical experts from all the six museums having mummies should be involved in the process to prepare a report of their preliminary examination and submit it to the HRD department of the Union Government to pave the way for inviting foreign experts to provide training to the museum officials regarding preservation and to transfer the mummies from their traditional glass showcases to specially designed hermetically sealed display and storage cases for their long term preservation.

REFERENCES :

1. Arya, A., Shah, A. R., and Sadasivan, S. (2001). Indoor Aeromycoflora of Baroda Museum and Picture Gallery. Deterioration of Egyptian Mummy. Current Science. 81(7).
2. Arney, J. S., Jacobs A. J., and Newman R. (1979). The Influence of Oxygen on the Fading of Organic Colorants. Journal of the American Institute for Conservation (18): PP108-17.
3. Aufderheide, C.A. (2003). The Scientific Study of Mummy, University Press Cambridge, U.K. PP. 252- 255. http://books.google.co.in /books/about /The Scientific Study of Mummies.
4. Bresciani, E., Betr, M. (2004). Egypt in India Egyptian Antiquities in Indian Museums. Ed. Edda Bresciani and Marilina Betrô. Pisa University Press.
5. Brommelle, N. S. (1964). The Russell and Abney Report on The Action Of Light On Watercolours. Studies in Conservation (4): PP.140-51.
6. David, R. (1978). Mysteries of the Mummies. Macmillan pub. Co. Inc. New York. PP.58-81.
7. David, R. (1978). Mysteries of the Mummies. Macmillan pub. Co. Inc. New York. PP.160-167.
8. David, A. E. (1986). Conservation of Mummified Egyptian Remains. Science in Egyptology. Manchester, England. Manchester University Press.
9. Elnaggar, A., Sahab, Ismail A., Mahgoub, G., Abdelhady, M. (2010). Microbial Study of

Egyptian Mummies. An Assessment of Enzyme Activity. Fungicides and Some Mummification Materials for the Inhibition of Microbial Deterioration. e-conservation magazine. 16:PP.39-49. http://www.e-conservati online. com/ content/view/931

10. Feller, Robert L. (1967). Studies on the Darkening of Vermilion by Light. Report and Studies in the History of Art 1967. Washington, D. C. National Gallery of Art. PP.99-111.
11. Hansen, E. F. (1998).Protection of Objects from Environmental Deterioration by Reducing their Exposure to Oxygen. Oxygen-Free Museum Cases. Research in Conservation. Getty Conservation Institute. Ed. Shin Maekawa. PP. 7-16.
12. Hansen, E. F. (1989). Initial Recommendations for the Display Conditions of the Royal Mummies of the Cairo Museum. Internal Report, Getty Conservation Institute, Marina del Key, Calif.
13. Hansen, E. F., Lee, S. N., and Sobel, H. (1992). The Effects of Relative Humidity on Some Physical Properties of Modern Vellum. Implications for the Optimum Relative Humidity for the Display and Storage of Parchment. Journal of the American Institute for Conservation 31(3): PP.325-42.
14. Howard, D. H. (1983). Fungi Pathogenic for Humans and Animals. Pathogenicity and Detection, Marcel Dekker. New York. PP. 267-271.
15. Iskander, N.Y (1998). Controlled- Environment Cases for the Royal Mummy Collection. Oxygen-Free Museum Cases. Research in Conservation Ed. Shin Maekawa Control Getty Conservation Institute. PP. 47- 51.
16. Kishan, H., Maekawa, S. (1998). Preservation of the Original Documents of the Constitution of India. Oxygen- Free Museum Cases. Research in Conservation. Getty Conservation Institute. Ed. Shin Maekawa PP. 53-58.
17. Kuhn, H. (1968). The Effect of Oxygen, Relative Humidity and Temperature on the Fading Rate of Watercolors. Reduced Light Damage, In a Nitrogen Atmosphere. In Contributions to the London Conference on Museum Climatology. 18-23 September 1967, Ed. Thomson, G., London International Institute for Conservation of Historic and Artistic Works. PP. 79-85.
18. Lõpez-MartŸnez, R., Hernýndez-Hernýndez, F., Millýn-Chiu, B.E, and Manzano-Gayosso L. J. (2007). Effectiveness of Imazalil to Control the Effect of Fungal Deterioration on Mummies at the Mexico City Museum. El Carmen. (Article in Spanish). Revista Iberoamericana de MicologŸa. PP. 283-288.
19. Maekawa, S. (1998). Conservation of Royal Mummy Collection at the Egyptian Museum. Oxygen-Free Museum Cases. Research in Conservation, Getty Conservation Institute. Ed. Shin Maekawa. Pub. J. Paul Getty Trust. PP 1-6.
20. Maekawa, S. (1998). Design and Construction of the GCI's Hermetically Sealed Display

and Storage Case. Oxygen-Free Museum Cases. Research in Conservation, Getty Conservation Institute. Ed. Shin Maekawa. Pub. J. Paul Getty Trust. PP. 31-41.

21. Meier, D. (2001). Mummies on Display: Conservation Considerations. Chungara Revista de Antropología Chilena, (33)1:PP.83-85. http://redalyc.uaemex.mx/redalyc/pdf/326/32614414013.pdf

22. Nicola, A., Nicola, M., Luigi. G. (2008). Preservation and Conservation of Mummies and Sarcophagi. e- Conservation. Issue no. 3. http://www.e-conservationline. com/content/view/599/177

23. Rust, M., and Kennedy, J. (1993). The Feasibility of Using Modified Atmospheres to Control Insect Pests in Museums. Marina Del Rey, California. Getty Conservation Institute.

24. Valentín, N. (1990). Insect Eradication in Museums and Archives by Oxygen Replacement, a Pilotproject. ICOM Committee for Conservation, 9th Triennial Meeting, Dresden, German Democratic Republic (2): PP.26-31, Preprints Ed. K. Grimstad. Los Angeles. ICOM Committee for Conservation. PP. 821-23.

25. Valentín, N. (1998). Preservation of Historic Materials by Using Inert Gases for Biodeterioration. Oxygen Free Museum Cases. Research in Conservation, Getty Conservation Institute. Ed. Shin Maekawa. Pub. J. Paul Getty Trust. PP. 17-30.

26. Weitzman, I., and Summerbell R. C. (1995). The dermatophytes. Clinical Microbiology Reviews 8(2). PP. 240-259.

WEBSITES :

1. http://www.indianmuseumkolkata.org/Egyptian%20Gallery%20info.php

2. http://articles.timesofindia.indiatimes.com/2011-03-09/jaipur/28672351 mummy-museum-officialsalbert- hall-museum

3. http://www.deccanherald.com/content/164796/mummy-gets-lease-life-rajasthan.html

4. http://articles.timesofindia.indiatimes.com/2008-06-15/india/27770605 mummy-egyptian-museummuseum- officials

5. http://www.sify.com/news/egyptian-team-in-jaipur-re-preserves-2300-old-mummy-news-nationalldirkhecdic.

The paper was presented in 7th International Conference on Biodeterioration of Cultural Property February 16-18 2013, held at Department of Museology, Aligarh Muslim University, Aligarh, India.

□□

“संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक”

Depiction of Autobiographical Angel in Pictorial Narratives of Anupam Sud

Dr. Meenakshi Khemka

Introduction:

This paper is tried to focuses on psyche of the artist and her autobiography through the pictorial creation of Anupam Sud. She is an eminent artist and a woman of substance who changed the face of Indian art scenario which was male dominated and proved her identity as the first Indian woman printmaker. Her works are directly or indirectly associated with genre people and human relationships and their emotions which leave a deep impact on spectators. Psychological and physical rendering of relationship can be truly seen in her works. She has made a great contribution in giving social messages through her works that focused on political, social and personal concerns of the society in her works. The description of her emotive themes deals with the idea of overlapping many layers of realities and personal identity. This is a witness of an autobiographical angle in her pictorial narratives; that's focused on individualist. It also imparts many shades of Anupam Sud's life and her psyche through the pictorial narration. In this research paper first, I discussed the life of the artist and how she grown up in her personal life as well as professional life. This inlaid light on how Anupam's work hints her own autobiography which understood through the example of work of art in particular period.

Anupam Sud belonged to a male dominating, conservative middle class family, was the eldest child among five children of her parents. She was born in famous family of Hoshiarpur, Punjab and spent much of her youth in Shimla living with her grand-father, Shri Shaligram, who was a prominent lawyer in Shimla, Himachal-Pradesh (before a part of Punjab). When Sud was nine-ten years old, departing from Punjab she turned towards New Delhi with her parents.

Being isolation in New Delhi, though, she never forgets her childhood days when she was in Shimla. One of her very powerful works embedded in her

---

Assistant Director, State Museum, Lucknow.

memories of her familial past is ***Of Walls*** *(Pl. 1)* in which Anupam reminiscences her childhood and the sheltered world created by her grandfather with high protective walls of the *haveli*.

Pl. 1

Overcome by nostalgia on her visit to the ancient house after many years, its architecture frozen in time evoked the presence of loved ones through memories of sight and sound. While much had faded into the background, her childhood graffiti drawn on the *haveli* walls was still intact. Anupam immortalizes the memory of intimidating walls, of boundaries now transgressed but symbolically evoked by the ground, the rugged tactile and wall and the row of the arches. The wall of the ancestral (Kothi) covered with graffiti, that was so difficult to jump over in childhood and now seemed to have shrunk. Thus, for Anupam Sud, *Of Wall* is a nostalgic personal moment, where women is time personified sitting without a face, like a widow holding onto her past while her future is in a state of inertia (the partial reclining figure). Anupam had returned to this property on the eve of its sale, and the perspective that she assumes is of the outsider looking on. More than anything, it is the mystery of time, being there it's not yet that engages Anupam on her journey down memory lane (Karode, Roobina, 2007: pp. 106-107).

Family background, Formative influences :

Within a large household, her father and brother represented a patriarchal presence, marked in her etchings through the presence of virile male bodies. The feminine circle, which constitutes a continuous thread in Anupam's work, represents the domestic sphere of marriage and child bearing and nurture as well as the more enigmatic states of unfulfilment. In no particular order, fragments of a narrative float into view (Sinha, Gayatri, 2007: p. 24). Anupam's family was belonged to Punjabi culture which was carried by her mother. She was very cultured and religious lady. It had its impact on Anupam Sud and she also has deep knowledge about *Upnishads* and *Puranas*. She heard many stories in her childhood from her ancestors and became habitual to read good

Pl. 2

literature for intellectual stimulus. Her imagery is influenced by D. H. Laurence literature, which is, philosophical and psychological profundity and very thought-provoking. But in her works we find a balance between reality and the uncanny happening in life which are difficult to explain. These all make her imaginative, philosophical, intellectual, and psychological level high which can be read through in depth study of her works.

Anupam Sud enjoys oscillating between simple and complex themes for the story alone is never enough for her. Her literal ponderings have to yield to the visual language, which are most engaging aspect and the ultimate reality for Anupam. One of the most befitting examples is the work which is inspired from a story heard from her ancestor in her childhood is ***"Prince and the Frog"*** *(Pl. 2)*. Locating it in a nebulous space, Anupam parodies the Prince and the Frog fable to invoke fresh meanings through it. The most obvious image is of a man, crouching like a frog himself, and stooping low towards a little frog. But most crucial to the narrative is the partially camouflaged image of a girl foetus within a shape of a teardrop, eliminated before her birth. Anupam was preoccupied with the topical readings then of the discrepant male-female ratio and growing rate of female foeticide. Giving the story a new twist, the man is left to a kiss for frog instead of princess, while the earliest speculates on the inevitability of homoerotic encounters in the future. The mask, applying lipstick further relates to the new sexual preference and relationships, whereas the unusual treatment of the surface with tactile markings and erasures creates visual friction (Karode, Roobina, 2007: p. 96).

The sharp realization of the present moment the inner and the outer streams mingling - and the continuing interplay life and pictorial creation, to be found in the disciplined critical creative oeuvre. Anupam Sud is a recursive, taciturn, and martinet lady. She is warm, friendly and feminine, but she always kept herself very bold. In her childhood she wore boyish clothes and she and her sister

would act as a 'weight' for their athlete father. Although her works are feminist but she is not a feminist. These qualities came in her through her father, who always supported her to achieve her goal. Sitting on the dining table, he always talked how to get a good physique which deeply influenced Anupam Sud and she took interest in sports and followed a much disciplined life. Her father took great care of body to achieve physical perfection that led her to the discovery of musculature through tactile sensation rather than through the eye. She did not admire it only in her life but these qualities also stark in her works.

Shaping of an Artist :

Working mainly with intaglio prints, Sud fused her knowledge in lithography, screen-printing, paintings and sculptures also. She is very frail looking but she has very strong will power that makes her steely. Anupam Sud specialized in printmaking under the guidance of Jagmohan Chopra a well known printmaker of India. A single woman, Anupam Sud spent years living with her parents, brothers, their wives and children rendering her experience quite typical of the single woman in contemporary India. Belonging to conservative *Vaishya* family Anupam Sud's choice of academic and artistic pursuits over an arranged marriage was rare. However she continued her career as an artist and illustrated familial issues in her artistic creations. One of them is bereavement of her mother. Her mother was mistakenly diagnosed with cancer. The fourteen years spent in serving her sick mother, Anupam Sud renders hospital images such as the explicit work ***"Homage to Mankind" (Pl. 3)*** as well as the more graphic images of a hospital, a site for participation and observation inspired from that situation.
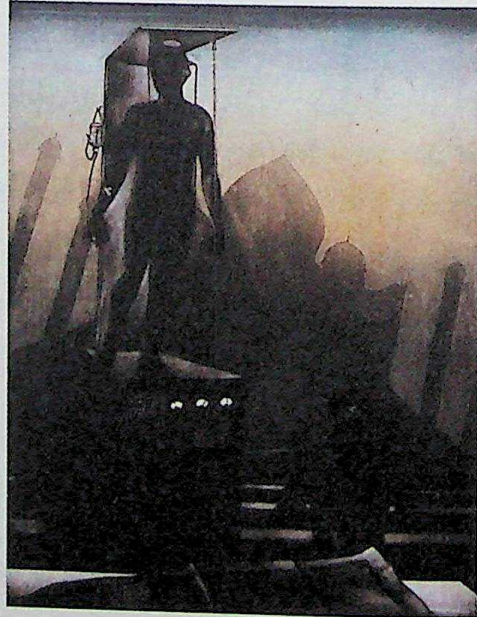
Pl. 3

Her association with 'Group 8' was an enriching experience and a constant source of inspiration for Anupam Sud. It did much to stimulate her creative activity.

Anupam Sud's creative ability brought out the British Council Scholarship and she moved towards London. In 1971-72 Anupam Sud studied printmaking at the Slade School of Art, London under a British Council Scholarship. At the Slade, Anupam's sensibility and approach to print-making underwent a radical change. In England she has done experiments with a variety of materials which were available in plenty and of the finest quality. Anupam met the people of various countries and they share their ideas.

In this way, the flower of Anupam Sud's pictorial genius blossomed forth in the nourishing soil of United Kingdom. United Kingdom had a powerful impact that opened up a path for her new vision: she began experimenting with the human figure. The etching is a further refinement of the tendency that her Slade training stimulated of the positing of opposite sensory and conceptual element within the same frame. After doing the study at the Slade School of Arts, she returned to home, and was busy in cultural and gender readings, at the blurred space of the domestic and the social.

Anupam's own choice of becoming an artist, and the routes of self expressiveness that she taught in her work found an interesting response through changes in social policy. Now with age, as printmaking becomes physically daunting, Sud had hit on an effective way of pursuing her creative goals. In 1978, Anupam Sud joined the College of Art and headed the printmaking department till 2003. Her teaching brought its own rewards. The life of a committed art teacher was devoted to leading the hands of impressionable young students towards achieving technical proficiency in such a complicated chemical procedure like etching, besides thinking through the image-making of transfers, after they have been given ample lesson in life drawing. While communicating to young art students, the experienced teacher had to break down the complex techniques into simple easy-to-follow procedures, which in a way was an act of de-learning or re-learning the craft.

While drawing along with her students in the life study class, Anupam was not only helping the young artists to learn how to look, but she began looking at the body in numerous new ways herself, in ways she had never looked before. This is important in the perceptual evolution of an artist, whose rendering of the human body has been consistently noted for its anatomic veracity and emblem-

atic embodiments in art historical writings (Xaviers, John, 2010: p. 2). Her interaction with students allowed her to understand different kinds of social and human contradictions.

Journey of her Creativity :

Pl. 4

Anupam Sud visited different countries and many cities of India during her life time. Her vision encompasses many layers of space and time; her scale is infinitive, but her images rooted. She conveys ideas that can never really be verbalized except, arguably, in a poetic idiom. Her journey to different regions left imprints on Anupam Sud's mind; the reflection of which can be seen in her entire pictorial thesis. In other words, Anupam Sud's works are a philosophical interpretation of the great Indian spirituality that transcends all religious faiths. For example, in an interview when Akanksha Rastogi asked Anupam Sud about depicting particular woman figure with special reference to the work titled ***"The Steps" (Pl. 4.)*** and ***(Pl. 5)****'Step-I'* and use and re-use of an etched image multiple times which at once gives the level of objectivity, Anupam recalls her Banaras visit, and she says,

Pl. 5

'I didn't find these two works important enough at that time. Just a few days before doing the work, I had gone to Banaras where I saw an image that had moved so much that I didn't want to bring it completely in my work. It was an image of a rickshaw carrying a dead body, tied on a ladder and an old woman sitting beside it, going towards Harishchandra Ghat. There was no emotion on the woman's face, she was not crying. I realized how situation makes similar things different. Death of a

non-descript person meets with no response. How solitary we live. The existence. This image was a mental shock to me. And thus the concrete hard edged wall in 'The Step' - if you collide with it, you will get hurt. The Steps - we are either climbing up and down in life, also in remembrance of the Ghats of Banaras. In Banaras I had made a drawing of this woman titled ***"Banaras-a memory" (Pl. 6)****, which was bought by Chester Herwitz. A little later I made some changes in it, modeling the face of the woman to my maid's face in Delhi. I was sorting out and maturing with it. The two works 'The Steps' and 'Step - I', I shunned the emotional attachment. The central figure in*

Pl. 6

'Step - I' is done through photo-process. In 'The Steps', the building on the left is the one in Chandigarh, negative of an older print. The third work in this series is ***"Trinity"*** *where I place a lingam instead of woman, Sadashiva of Elephanta, and cow an everyday reality, is fully drawn* (Tagore, S., 2010: pp. 123-124).

Thus, these statements prove that imprints of her visit could be seen in her etched image. Yet, there are many other visit which directly or indirectly influenced and inspired into her creative oeuvre.

After knowing about the life of Anupam, we can say that her career reveals various strands that go into the shaping of her mind, the influences of which later bear upon her creative impulses. Hence, Anupam Sud as a single woman has resolved her purpose of life, by indulging in art, sourcing it through her contact of life and its innumerable shades. Anupam Sud has reached this level after a long journey and experience of different aspects of life. Anupam Sud's conception of time is as layered as her creations. These works are directly or indirectly associated with common human predicament and leave a deep impact on viewers. In her own words, *'My works are based on human relationships.*

The human form is capable of framing both pleasure and pain: this allows me to explore the psychological world through the physical world.' This psychological and physical rendering of relationship can be truly seen in her works. These qualities inlay through the hard work and emotional sensitivity of the artist.

Psyche of Anupam Sud and Autobiographical Angle :

This is an attempt to understand inter-relation of psychology of the artist and her works. Which done by understanding the psychology of the artist, her life, situations, followed by describing the experiences of Anupam Sud's life and her works which deeply reflects the psyche of Anupam Sud.

Art keeps pace with the psychology of people with what mirrors their emotions and their daily life in each given time. Emotions have always played a very important role in artistic creativity, because any human creativity involves emotions. The emotional process involved, follows the formula from image to idea and from idea to emotions (Zografidis, G and Kougioumoutzakis, G. 2008).

Thus, the work of art is the product of psychic forces which are in opposition to each other, such as desire and inner prohibition. It represents reconciliation between these conflicting forces and has therefore the character of a compromise, as have also those psychopathological formations- errors, dreams and neurotic symptoms. The fundamental dynamic force at the root of a work of art is an unfulfilled wish of the artist; just as in dreams and fantasies, the work of art represents this wish as fulfilled. Psychoanalysis has taught us to recognize the enormous importance of the gratification which the individual obtains through fantasies and daydreams. Everyone has daydreams and the ego of the normal adult admits this kind of satisfaction to some extent.

The artist is an introvert. Since he is unable to satisfy his overpowering instinctual needs in the world of reality, he is obliged to turn away from the real world to the realm of fantasy thus taking the way which leads to neurosis. But it is here that the creative process sets in, enabling him through discharge of instinctual energy and the effect of the work of art on the outside world to save himself from neurosis and to regain contact with reality. He is able through the creation of a work of art to obtain sufficient gratification of his intense childhood wishes which he represents as fulfilled in his creation. Through this work of art

the artist obtains a far greater gratification than through the hallucinatory representations in fantasy or daydreams because the work of art, although modeled from fantasy, is formed of a material corresponding to the real outside world. His particular method of representation, possible to the artist on account of his talent, enables him in a certain measure to find a way back from fantasy to reality, obtaining in this roundabout way a means of gratifying actual wishes and of achieving success for which, in a direct way, his forces would never have been adequate. For the artist therefore, the work of art signifies on one hand, deliverance from neurosis through the instinctual gratification which it brings him and, on the other hand, the possibility of real success which would have been denied him, had he not found the device, represented by the work of art, for satisfying his instinctual wishes. Both gratification of instinctual wishes by the work of art and the ensuing success in the real world make it possible for the artist to escape from neurosis because the dynamic result is a considerable decrease of tension in the psyche. Therefore artist's production is directly connected with daydreaming and fantasy.

The disclosure of the fact that unfulfilled wishes (infantile/daydream), originating in the unconscious, are satisfied to the work of art, and that it is possible through analysis of the work of art to discover these. To analyze the work of art it is important to find connections between the experiences the artist has had during his life, especially the impressions of early childhood, and his artistic creations. These connections are actually to be found not only in the subject matter but also in the artist's specific method of creation.

The artist takes mundane forms of reality from her surroundings which is directly related to common human predicament; either animate or inanimate objects. Therefore, understanding and analyzing the life and psychology of artist thereby with the works gives us a glimpse of how the unknown influences are reflected in the creation of the artist and how she makes these forms appealing to the human brain. The artist is, in a sense, a neuroscientist, exploring the potentials and capacities of the brain through different tools. This imitation of reality which plays such an important part in the formation of the material represents a primitive kind of mastery of reality which is made possible by an exchange of psychic for actual reality. The foundation of this technique resides

in the pleasure principle; it originates in a very early phase of psychic development at which the individual still looks upon himself as omnipotent because wishes are experienced at this period as if their fulfillment in reality were achieved by the mere act of wishing. We call this the stage of 'omnipotence of thought.' The creation of a pseudo reality, in which not the laws of the outside world but conscious and unconscious wishes are the determining factors, signifies a regression to this phase of the omnipotence of thought and the pseudo reality of the work of art brings them a profound satisfaction.

The formation of the material as an image of reality takes place under the influence of the reality principle, but it is this very creation of a pseudo reality with its magic significance which is able to bring satisfaction to psychic tendencies that, being extremely primitive, are so entirely dominated by the pleasure principle that they are normally held back from consciousness (Sterba, Richard, 1959: p. 629-634).

Anupam Sud, as an artist has an intuitive understanding of the mechanics of vision which she expresses in her pictorial creations. This psychological layering hidden within her creation can be understand through her works where she weaves her personal experiences and urge into the works of art as a way of fixing memory and feelings. This creative impulse to create a work of art and to communicate her experiences is the means of finding satisfaction. This creative impulse is a mysterious element in human personality (Caudwell, H., 1951: p.1). Hence art is a way; we have, to articulate our inner life. We have a continuing and complex inner response to the external world, exposed of various needs, emotions, thoughts both feelings and long term. This inner life is not transparent to us, not self interpreting. If we have to understand it, we must give it some more perceptible forms, and then examine them.

The first step towards an understanding of the creative mind; is an analysis of those deep-lying desires, which the creative artist attempts to satisfy by his creations. Anupam Sud's nature leads her constantly to explore, constantly to seek new aspects of truth. Having attained some understanding of what she believes to be true, she longs to give complete expression to the excitement of feelings or thoughts, that the discovery arouses in her consciousness. Her desire for expression therefore contains two elements: first, the wish to express

what is true, and second, the wish to give this truth full and perfect expression. Truth is a quality of what every artist attempts to say, through the expression of which constitutes her art (Ibid. p. 2-3). To analyze this, an attempt to explore the psyche of the Anupam Sud through her works and her life's experiences has been made.

Psyche of Anupam Sud: the oldest child in the family :

Anupam Sud, had a daily mantra (instrument of thought) asserting that she is the responsible one in the family and that her younger siblings do not have a clue. The oldest children in large families start assuming adult responsibilities in early childhood and lead very hard and stressful lives. Because of onerous familial responsibilities they are assigned and compelled to perform. This was the situation in case of Anupam, as she was the oldest of the five children. Realizing her responsibility, she even opted to remain single.

Contradiction: Family and Ambitions:

We are all moved by the contemplation of vast spaces, by loneliness, time, death and the unbridled forces of nature. All these shake men from their self-sufficiency, their unimaginative acceptance of their life and their environment, and allow them to see themselves in an infinitesimal part of an immeasurable creation (Caudwell, H., 1951: pp. 17-18). Under the influence of excitement, artistâs mind feels an unrest/anxiousness amounting possibly to a turmoil, in certain cases almost to a frenzy.

This theory emphasizes creation which is the expression of emotions of the artist. In this act of creation there is another remarkable activity of the imagination: it produces to the artist all the cherished memories. Thus it is that childhood's feelings, symbols and all the experiences of adolescence, youth and womanhood that will be at the artist's disposal for the expression of his feeling and thought (Caudwell, H., ibid, p. 24).

The feelings of the artist in which she remain at the point can be understand through the feelings of the persons depicted in the creation and interpret them mostly through facial expression, gesture, postures and actions. As we know, the journey of Anupam Sud's life has been spent in isolation so this state of mind

is reflected somehow in her works. For e.g., two girls in the work entitled ***Composition B (Pl. 7)*** can be seen depressed and lonely. This was the time when Anupan Sud completed her diploma and decided to remain single. Meanwhile there were many contradictions in her family and personal life, which seems to have laid a great impact in her *'Composition B'*.

Pl. 7

Her commitment to be in pictorial life, ability to articulate and being an artist were constantly a challenge in front of her. Hours of engagement, was spent in formation of works. This was the enduring time when she enthusiastically focused on her goal. This process brought in light the work ***'Floating Existence' (Pl. 8)***. In this composition, human forms in monochromatic hues are trapped in *Chakravyuha* of life cycle where each form is carving, plunging to create its own identity. They are dreaming to execute their ceaseless desires beyond their capability, which directly relate to artistâs own desire and exertion. This exposes Anupam Sud as a career oriented woman to achieve her desire.

Pl. 8

Perfection in human physique:

As an artist she is in fact painstaking, cautious, patient and ceaselessly industrious, thoroughly enough to make use of human body in her works. The question strikes in my mind that why her pictorial oeuvre is primarily focused on human body? Searching the answer I discovered that in many respects she remained strongly attached to the human body and even to its values. Through the body her interest lies in exploring the psyche and its states. The approach of perfection towards human body has traced from her direct experi-

ence of her everyday life. As we know that discussed earlier, Anupam Sud had much of her time, with her father; and his love with body building tended Anupamâs approach towards human body and she was very much cautious about the physique. This is one reason which forces her to portray perfect human physique out of the medium of expression.

Pictorial narration of personal experiences:

Anupam Sud interlaces her personal observations into the narratives as a way of fixing memory and feelings and attempt to connect the pleasant/unpleasant characters of the subject with some negative/positive sensations of the artist (Sawant, Shukla, 2011).

Against the nastiness of subjects, her attempt was full of irony, which she beautifully painted or etched in her works. The originality of the artist's state of mind is embedded in the layers of subjectivity. Making a choice of subject in Anupam Sud's creations brings her strong agitation of the feelings in light, which somehow explores the artist's psyche. Anupam sud is an artist, full of enthusiasm who returned from London to her motherland after completing her diploma in printmaking. She was full of energy to share her ideas and experiences into an institutional space, which brought her to Delhi College of art. But here, she was discouraged by the male faculty because she was a woman and that time print making was totally male dominated field. During this period, we observe that the headless male torsos dominated in her works. For example, if we examine the work entitled ***'You' (Pl. 9)***, a headless person seated in the office seems most powerful and reputed. This work is related to thinking of life and presence of brain, ethics and morality which create a kind of tension in everyday life.

Pl. 9

But another point of view is headless symbolically represents the absence of mind those who believe that a woman is not capable of drawing and also that a woman can learn printmaking but can't teach. This work
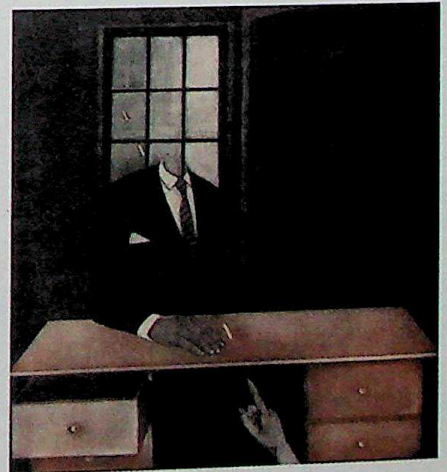
presents the observation of Anupam's life, give a glimpse of her thought and ironically she shares the ideas of her life in a picturesque way.

The isolation:

A recurring theme throughout Anupam Sud's oeuvre is the representation of human relationship, especially man-woman relationship, which may make an attempt to contextualize various shades of everyday life in urban milieu that create a mental dialogue. In this context, when we observe the works of Anupam Sud, the theme depicted aroused the emotions of love, desire, attachment, etc., in various relations, for e.g., as seen in the work ***'Between Vow and Words' (Pl. 10)***. The composition is brilliantly compressed and densely detailed to create a suffocating atmosphere suggesting a loss of personal space. Anupam suspends the holy matrimonial vows in doubt to reverberate as whispers, giving a visual image to sound/the spoken words for viewer to look and read into. The narrative is spatially hinged between the foreshortened table and a metal rod with clothes hanging from it while the vows as inscriptions loosely float in space. Though the couple tightly holds hands, they look in different directions- the man looks into the distance as if focused on the future while the woman is rooted in the immediate reality (Karode, Roobina, 2007: p. 92). Anupam Sud is invariably drawn to mind and body asymmetries in man-woman relationships. These themes were mostly depicted in 80s and 90s. It was the period when she was about 40 years old and factually, a person who was in need of a companion. Though there is a theme of love, desire and relationship of man and woman in her compositions but the actual situation depicted is of solitude where even if they are represented together but yet they are alone Thus, we can say that the situation is representing the loneliness of the artist who in spite of being surrounded by family, friends, relatives etc., is still alone in real life.
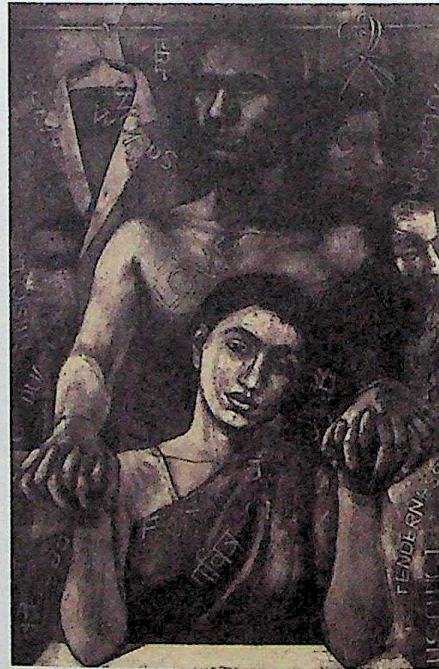
Pl. 10

Her loneliness is also reflected in one of her prints, ***'Silent Moment' (Pl. 11)***. The posture of the woman, her domesticity, her kitchen, the image of cylinders, hanging cups, the rows of bottles, and the asymmetric two cups- all these define (Tagore, S., 2010: p. 124) Anupam Sud herself. It was in the same year that she lost her father. If we start to open the embedded layers, we get the artist's state of mind in the feeling of the person through her postures as well as psychological rendering by the artist which when applied in her case, reveals the hidden state of Anupam.

Pl. 11

Role of Patriarchal Society and Anupam Sud :

Anupam Sud belonged to a male dominated family and she had seen many shades of patriarchal society in her family. One of the works ***'Dining with Ego' (Pl. 12)*** depicts such a world which has the seeds of its destruction embedded within. It is a usual day, like any other day we sit down for dinner. The spread is sumptuous and the menu varied. The man's plate is overflowing with the food and he has already started gorging his mouth with it, totally engrossed in his animal deglutition. But the woman is far away and her plate is empty. Unnoticed at the far end of the frame she is drowning in her grief. The visual plane is dominated by the oversized table laden with oversized food: fish, chicken, eggs, soup, it is like an unending procession of food.

Pl. 12

A delicate vase with a rose sits in the centre of it all, its head bent, reflecting the grief of the woman, almost out of place in the setting. The proportions of the utensils with the food on them have been rendered visibly larger than the humans at the table, in a way that drives home the vulgar gluttony that has displaced the fragile bonds of relationships. This print conveys not only the feelings of the persons as they are depicted but, it also gives an idea about the psyche of the artist who knows the value of complete diet which she has adopted in her life. At the same time, she also highlights the bitter truth of the patriarchal society where woman is not cared to take proper diet but males are fed beyond limits. This is something which deeply impacted on Anupam's mind.

More than just a surreal occurrence, the larger than life proportions, takes on an aberrant form, as if the voracity is not merely a hunger for food but an inexorable desire to consume everything within its periphery. This grotesque craving goes beyond food and possesses the ability to consume life, desires and being itself. Food, a symbol of the human need for sustenance and also the primal drive for self preservation is transformed into a metaphor for the destructive rapacity of human relationships. This woman's lament is not the grief of an individual, but the suffering of women across the ages.

Even though this absence of meaning is inundating her, her grief is not a submission; it is a resistance, attained by expelling meaning to the condition of being and a refusal to fetishes the objects of desire. This insurrection in the mode of grief opens up a path for this woman, situated in the periphery of the picture, to make a move towards the centre. Her position in grief is that of an exile and it brings her forth to question 'Where am I?' thereby destabilizing the constructs of patriarchal powers that have banished her to the margins (Ghosh, Subba, 2012: www.artnewsviews.com/view-article.php?article=the-imprinted-body-iid=25&articleid=657).

The reason for discussing the following print in so much of detail is because this very clearly displays what Anupam had experienced in her life, in her surroundings. She belonged to a conservative middle-class family, where she was constantly made aware of the contracted role offered to women as domestically enslaved subjects with their maternal, reproductive function their primary role. The subsequent disciplining of the female body, subjected to con-

stant social injunctions how to behave and the regulatory mechanisms that were put into place to limit their potential were familiar situations-more so because she came to be a pioneering figure in an institutional art world, dominated by men. Her

Pl. 13 a Pl. 13 b Pl. 13c

drawings of women confined in bottles or else huddled into a fetal position ***(Pl. 13 a-d)***; retreating into a protective space, are thus metaphoric evocations of the social closures which often confine and bind women down reveal the hidden pain which she experienced all throughout her life, in the male dominated society.

Pl. 13d

Here, each image challenges and tests the patriarchal practice of confining women to the home and corralling them to preserve their 'virtue' and limit their potential as active agents (Sawant, Shukla, 2011).

Quest of eternity- Self realization and Self introspection:

Anupam Sud painted herself which address the importance of recognizing the other self within us. This is a journey of self realization and a quest of eternity. In this context, ***'Dressing for a Journey' (Pl. 14)*** is a very poignant piece. It looks like a collection of family photo taken from an old family album which portrays her siblings as young children and her mother as a young woman. In the foreground, there is her double self portrait sitting in front of the mirror applying lipstick. In a disturbing contrast is her father painted as an old man surrounded by hospital paraphernalia. She rendered the hospital image of her father who stands on his own feet, while he can't stand. Rendering of net
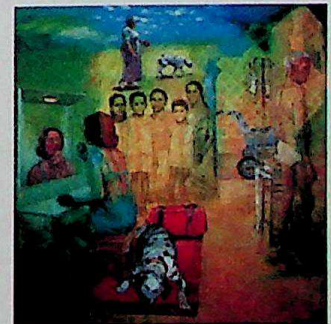
Pl. 14

symbolically represents her fatherâs love of sports. This many layered piece covers old age, youth, love, responsibility and reflects on the trials of guilt encountered by many, which are torn between individual aspirations and family responsibility (Prakash, Uma, http:/ www.artnewsnviews.com/view-article.php?article=the-other-self-by-anupam-sud-at-art-heritage-new-delhi articleid=381). It also focuses on who her father played a very supportive role in her life and always being with her till the end of his life when every relation left back. Painting throws light on the endless and unaccomplished desires of the Anupam to see her family together while she remains forlorn.

With turn of century, she re-involved in mythic subjects and forms of god and goddess. These images come in her imagery as a response of her parents those are no more. Through these works, she is indulging in a dialogue with them. Now she has questions but there is nobody to answer them. As a result, she started meditation to keep away herself from all sensual pleasures and taken to herself to stand upon the inner reality, the *Atman*. It is a step of her to attain peace and spiritual consciousness at the dusk phase of her life. Thus, in ***'Yogini' (Pl. 15)*** she represents herself which reflects her state of mind as a journey to attain liberation within and through the world.
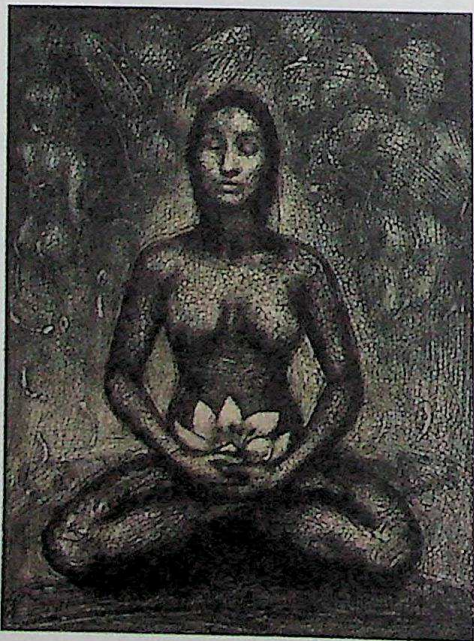
Pl. 15

Here, I would like to emphasize that she mostly uses black and white for her etching prints which gives the elegant look with the touch of mystery and strength. Both these qualities are found in Anupam's works which carry enigmatic meaning along with powerful compositions. This black and white colour creates an intermediate colour grey which is associated with intellectual. It shows the artist's perception of mind and her rational mind about the concept, form, space, shape theme, composition etc., to visualize her subject. It also highlights the clarity of mind where the artist sees everything in black and white or right and wrong.

Conclusion:

The description of her emotive theme deals with the idea of overlapping many layers of realities and personal identity. This is a witness of an autobiographical angle in her pictorial narratives; that's focused on individualist. It also imparts many shades of Anupam Sudâs life and her psyche through the pictorial narration. Though, she has borne all the responsibilities in her life and accomplished an end but at the dusk phase of her life she remains forlorn and has turned towards spirituality which enquires through the works. About her practice, Anupam Sud said, *'I don't have a rhetorical aim, but I do want people to look at my work and see more than just a plain representation of reality. Rather I want people to be conscious of the fact that they are watching a staging of reality that draws upon my observation of the world around me and with it, the drama of everyday life.'*

The analytical study of Anupam Sud's oeuvre investigates that human form is at the centre of entire pictorial creation; and her forms are more than a mean of exploring whether the narrative, the epic or the human predicament. Through, these forms her interest lies in exploring the psyche and its states which give clues about artist's psychology and personality. After examining Anupam Sud's life, concept and form of her works, the concluding remarks brings that her works are opening of autobiographical statement that have powerful glimpses of psychic states.

References List:

1. Karode, Roobina, 2007. 'Essay Two 1990's - 2007, Sen, Geeti, ed., 2007. *Transgression in Print, Anupam Sud: Four Decades,* Palette Art Gallery, New Delhi.
2. M., Weitz, 1959. Problems in Aesthetics, The Macmillan Company.
3. Parsons, Michael J., 1987. *How we Understand Art: A cognitive development account of aesthetic experience,* Press Syndicate of the University of Cambridge, Cambridge.
4. Pollock, Griselda, 1999. *Differencing the Canon: Feminist Desire and the Writing of Artâs Histories,* Routledge, Abingdon, Oxon.
5. Pollock, Griselda, 2006. *Psychoanalysis and the Image: Transdisciplinary Perspective,* Blackwell Publishing Ltd.
6. Rose, Gilbert J., 1980. *The Power of Form: A Psychoanalytic Approach to Aesthetic Form,*

International Universities Press, INC., New York.

7. Sawant Shukla, & Subba Ghosh, 2007. ãIn Conversation with the Artistä Sen, Geeti, ed., 2007. *Transgression in Print, Anupam Sud: Four Decades,* Palette Art Gallery, New Delhi.

8. Sen, Geeti, ed., 2007. *Transgression in Print, Anupam Sud: Four Decades,* Palette Art Gallery, New Delhi.

9. Sinha, Gayatri, 2007. 'Essay One 1960's - 1980's, Sen, Geeti, ed., 2007. *Transgression in Print, Anupam Sud: Four Decades,* Palette Art Gallery, New Delhi.

10. Tagore, Siddhartha, 2010. 'Akansha Rastogi in Conversation with Anupam Sud, brings four anecdotes from the creative process as she discusses some of Sud's works in detail, and traces her artistic phases' *Art & Deal*, Hauz Khas Village, New Delhi, India. Vol.6, No. 4, Issue No. 30.

11. Young, Serinity, ed., 1999. *Encyclopedia of Women and World Religion*, Macmillan References, New York, USA, Vol. 1 & 2

12. Exhibition catalogue *A Tireless Mission,* essay by Roobina Karode, Art Heritage, New Delhi, 1999.

13. Exhibition catalogue *the other self*, essay by John Xaviers, Art Heritage, New Delhi, 2010.

14. Exhibition catalogue *Preparatory Assertions Notes from Sketch Books,* curated by Suruchi Khubchandani, Latitude 28, A Gallery of Contemporary Arts & Ideas, New Delhi, 2011.

15. Ann, Mary and Lutzker, Milford, 2002. Five artists from India: Gogi Saroj Pal, Rekha Rodwittiya, Navjot, Anupam Sud, Rummana Hussain. *Womenâs Art Journal*, [e-journal] 23 (2). Available at: http://www.jstor.org/discover/10.2307 1358704 uid=3738256&uid=2&uid =4&sid=2102175227887

16. G., Zografidis, G., Kougioumoutzakis, 2008. Aesthetics and Art. (Online) Avilable at: http://www.eartdrops.com/index.php?option=comzhcontent&view=category

& layout=blog&id=37&Itemid=57&lang=en).

17. Ghosh, Subba, 2012. The Imprinted body

Avilable at: www.artnewsviews.com/view-article.php?article=the-imprinted-body&iid=25&articleid=657

18. Karode, Roobina, A Tireless Mission [Online]

Avilable at: http://www.indianartcircle.com/anupamsud/tirelessmission.shtml

19. Prakash, Uma, The Other Self by Anupam Sud. Art Heritage, New Delhi

Avilable at: http://www.artnewsnviews.com/view-article.php?article=the-other-self-by-anupam-sud-at-art-heritage-new-delhi&iid=17&articleid=381

20. Siddiqui, Rana, 2007. Etched in black in white. The Hindu, [internet] 14 December. Avilable at: http://www.hindu.com/fr/2007/12/14/stories/2007121450530300.htm

21. Singh, Kishori, 2007. Will the real Anupam Sud stand up [Online]

    Avilable at: http://www.business-standard.com/article/beyond-business/will-the-real-anupam-sud-stand-up-107120901002zh1.html,

22. Sinha, Gayatri. *The Devices and Desires of Anupam Sud* [Online]

    Avilable at: http://www.indianartcircle.com/anupamsud/desires.shtml

23. Sircar, Anjali, 2001. Feel of unexpected. The Hindu, [internet] 8 April.

    Avilable at: http://hindu.com/2001/04/08/stories/1308076f.htm

24. http://www.cimaartindia.com/NewCima/Artists/AnupamSud.htm

25. 2003, http://www.guildindia.com/anupamzhmohinimaya.htm

26. http://www.artnet.com/artists/anupam-sud/past-auction-results

27. http://www.latitude28.com/index.php/artists/view/106

28. http://www.galleryartpositive.com/artistzhdetail.php?id=3&action=profile

29. http://www.timeoutdelhi.net/art/features/different-folks

30. http://www.visionsarts.com/artist-details.asp?bzhid=191

31. http://www.artintaglio.in/ArtistProfile.jsp?ArtistId=165

32. http://www.indianartcircle.com/anupamsud/summary.shtml

33. http://www.myarttracker.com/node/377327/artworks/by-artist

34. http://www.indianartcollectors.com/artist/AnupamSud

35. http://www.bosepacia.com/exhibitions/2001-12-13zhanupam-sud/press-release/

36. http://waswoxwaswoartcollection.blogspot.in/2009/03/blog-postzh05.html

□□

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

राज्य संग्रहालय में शिव के विविध रूप

डॉ. चन्द्र मोहन वर्मा

हिन्दू देववाद के त्रिदेवों में शिव का स्थान महत्वपूर्ण है। शिव–भारत के सर्वाधिक पूज्य देव है। उन्हें देवाधिदेव महादेव कहा गया है। वे सर्वव्यापी हैं। आकाश ही उनका शीश है, उसकी लालिमा ही उनके केश हैं, एवं चन्द्र उनकी शिरोभूषा है। तभी उनको व्योमकेश व चन्द्रशेखर कहा जाता है, उन्हें सवेज्ञ माना गया है। उनके तीन नेत्र ही तीन वेद हैं, तीन गुण (सत, रज, तम,) तीन शक्तियां (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) और सृजन, पालन, तथा संहार तीन क्रियाशील स्वरूप है।

ऋग्वेद में शिव का उल्लेख किसी भी रूप में नहीं आया है, परन्तु शिव के अन्य नामों में से एक रूद का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। शिव का आरम्भिक रूप मोहनजोदड़ो से प्राप्त शील में देखने को मीलता है। शिव रूप के रूप में वैदिक साहित्य में बहुचर्चित हैं। साहित्यिक संदर्भों में प्रथम शिव लिंग पूजा का वर्णन महाभारत में आया है। शिव प्रतिमा का उल्लेख पंतजलि ने तो किया है, परन्तु वह केवल साहित्यिक संदर्भ मात्र है। वस्तु रूप में शिव प्रतिमा का अंकन पंच मार्क सिक्कों में प्राप्त होता है,

भारत में शिव पूजा दो रूपों में की जाती है, (1) प्रतीक रूप (2) प्रतिमा रूप प्रतीक रूप में शिव की उपासना लिगों द्वारा की गयी है। मूर्त रूप में लिंग का प्रथम अंकन गुडीमल्लम से प्राप्त प्रतिमा में हुआ है, इसका समय दूसरी शती.ई. में पूर्व माना गया है। यह शिव प्रतिमा का पूर्ण मानवाकार में लिंग पर आधृत है। इसी प्रकार का एक पंच–मुखी–शिव लिंग, दूसरी शती.ई. पूर्व, जो भीटा से प्राप्त है, जो वर्तमान में राज्य संग्रहालय में संग्रहीत है।1

भारतीय मूर्तिकला के विकास के साथ–साथ शिव प्रतिमा का भी विकास हुआ जिसके फलस्वरूप शिव प्रतिमायें कई रूपों में प्राप्त होने लगी। शिव के स्वतन्त्र रूपों की कई प्रतिमायें राज्य संग्रहालय में भी संग्रहित हैं, जो निम्न प्रकार हैं–

(1) एकाकी शिव (2) सिंह के साथ शिव (3) चतुर्मुख शिव (4) उमा–महेश्वर (5) कल्याण सुन्दर (6) अर्धनारीश्वर (7) हरिहर–प्रतिमा (8) दक्षिणामूर्ति (9) रावणानुग्रहमूर्ति (10) भिक्षाटन मूर्ति (11) गजासुरवध मूर्ति (12) भैरव मूर्ति (13) नृत्यरत शिव मूर्ति (14) विणाधर मूर्ति (15) लकुलीश मूर्ति

प्रदर्शक. व्याख्याता, राज्य संग्रहालय, लखनऊ

(1) एकाकी शिव मूर्ति

सिक्कों एवं सील के आधार से यह स्पष्ट है कि शिव की स्वतन्त्र प्रतिमायें बनती रही होगीं। प्रस्तर में इस प्रकार की प्रतिमाओं की संख्या बहुत कम हैं। शिव की गुप्तकालीन स्वतन्त्र प्रतिमा वलिया से प्राप्त है, जो राज्य संग्रहालय में संग्रहीत है। द्विभुजी शिव प्रतिमा स्थानक है, शिव के सज्जित केशों को दो भागों में बाँटकर पीछें की ओर लहराया गया है, शिव का दायां हाथ वरद मुद्रा में तथा बायें हाथ में त्रिशूल धारण किये है, माथे पर खड़ा त्रिनेत्र, प्रभामण्डल सुन्दर मुखाकृति का अंकन किया गया है। शिव की वरद मुद्रा का यह सबसे प्राचीनतम उदाहरण है।2

(2) सिंह के साथ शिव प्रतिमा

यह सर्वविदित है कि शिव का वाहन वृषभ है, एवं पार्वती सिंह पर विराजमान रहती हैं। परन्तु प्रारम्भिक काल की कुछ प्रतिमाओं में सिंह का शिव के साथ अंकन प्राप्त हुआ है। इस प्रकार की प्रतिमा राजकीय संग्रहालय मथुरा में संग्रहीत।

(3) उमा–महेश्वर प्रतिमा

विष्णु धर्मोन्तर पुराण में एवं वृहतसंहिता में उमामहेश्वर का उल्लेख हुआ है। उमामहेश्वर की प्रतिमा का तात्पर्य शिव एवं पार्वती को कला में प्रस्तुत करना है। उमामहेश्वर का यह मूर्ति–शिल्प पूरे भारत में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है, कुषाण काल से मध्यकाल तक उमामहेश्वर की प्रतिमाओं का निर्माण होता रहा है, उमा महेश्वर मूर्ति शिल्प में शिव एवं उमा एक दूसरे को आलिंगन करते हुये स्थानक मुद्रा व आसनस्थ मुद्रा में प्राप्त होती हैं, शिव को अधिकतर ललितासन या सुखासन में बैठ तथा उमा को उनकी मुड़ी हुयी बायें जंघा पर दर्शाया गया है। राज्य संग्रहालय में इस प्रकार कई प्रतिमायें संग्रहित है।3

(4) चतुर्मुख शिव प्रतिमायें

शिव प्रतिमायें चतुर्मुख (सर्वतोभ्रद) प्रकार में पायी गयी है, इस रूप में शिव को चार मुखों वाला प्रदर्शित किया जाता है, इस प्रकार की एक प्रतिमा इलाहाबाद से प्राप्त हुयी है। जो राज्य संग्रहालय में संग्रहीत है। जिसमें शिव अंकन किया गया है।4

(5) कल्याण सुन्दर प्रतिमा

शिव एवं पार्वती के विवाह का विवरण विस्तार के साथ पुराणों में प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने (कुमार सम्भव) महाकाव्य इसी विषय पर रचा है। हिमालय पर्वत की पुत्री पार्वती ने

तपस्या करके शिव को वर के रूप में प्राप्त किया, स्वयं ब्रहमा ने पुरोहित बनकर उनका विवाह करवाया था, इस शुभकार्य को देखने हेतु अनेक देवी–देवता एकत्र हुए थे; शिव पार्वती के इस पाणिग्रहण संस्कार का दृश्यांकन (कल्याणसुन्दर) कहलाता है। विवाह–वेदी के चतुर्दिक भावँर या विवाह के फेरे (सप्तपदी) लेते हुये शिव–पार्वती को आकर्षण रूप से सजा–संवरा दिखाया जाता है। शिव–विवाह देखने के लिए जुड़े देवताओं में ब्रहमा के अतिरिक्त विष्णु, इन्द्र, वरूण, सूर्य, कुबेर, अग्नि, गणेश, नवग्रह, सप्तमृतकाओं आदि का अंकन पाया जाता है। कल्याण सुन्दर प्रतिमा में शिव व पार्वती को सदैव सप्तपदी लेते हुये स्थानक मुद्रा में दिखाया जाता है। इस की प्रस्तर प्रतिमा का अंकन पूरे देश में लोकप्रिय रहा हैं। राज्य–संग्रहालय में कल्याणसुन्दर की प्रतिमा संग्रहित हैं। जिसमें शिव को पार्वती के बायें खड़ा एवं पाणिग्रहण संस्कार मुद्रा में अंकन किया गया है। नीचे अग्निवेदी पर हवन करते हुये पुरोहित के रूप में ब्रहमा एवं फलक के ऊपरी भाग पर नवग्रह व अन्य भागों पर देवगणों का अंकन किया गया है।5

6. अर्धनारीश्वर प्रतिभा

शिव की संयुक्त प्रतिमायें विविध धार्मिक सम्प्रदायों की समन्वयवादी विचारधारा को प्रकट करती हैं, इस विचारधारा का मूल चित्रण वैदिक साहित्य में भी देखा जा सकता है। अग्नि–सोम, कुमार–कुमारी पिता–माता, परार्ध–अवराध, पवन–पवनी, नर–नारी, देव–देवी, दक्ष–अदिति, आदि संयुक्त धार्मिक विचारों के समन्वयवादी प्रतीक हैं। ये विचारधारायें महाकाव्यों में भी प्रतिपादित हैं। धर्म शास्त्रों और स्मृतिग्रन्थों में विविध धर्मो के विश्वासों में समानता का दर्शन कराया गया है। पुराणों में उस विचारधारा की ओर विकास हुआ। इसी प्रकार की समन्वयमूलक विचारधाराओं ने प्रतिमा विज्ञान को भी प्रभावित किया है। इसी वैचारिक परिवेश में अर्धनारीश्वर (शिव व शक्ति) की प्रतिमायें परिकल्पित की गयी।

अर्धनारीश्वर की परिकल्पना भारतीय प्रज्ञा की अनूठी देने हैं, एक ही देवता में आधा भाग पुरुष का एवं आधा भाग नारी का जो संसार की अन्य सभ्यताओं में दुर्लभ है। (लिंगपुराण) के अनुसार लिंग और वेदी के संयोग को ही अर्धनारीश्वर कहा गया है। (श्रीमद् भागवत पुराण) के अनुसार प्रेम के वशीभूत होकर शिव ने अपना आधा भाग पार्वती को दे दिया था। (विष्णु पुराण) के अनुसार ब्रह्मा की टेढ़ी मृकुटि और क्रोधित ललाट से सूर्य के समान तेजमान रुद्र की उत्पत्ति हुई तो उस समय रूद्र का प्रचण्ड़ शरीर आधार नर और आधा नारी रूप था। (विष्णु धर्मोन्तरपुराण)

में अर्धनारीश्वर को 'गौरीश्वर' कहा गया है। प्रतिमा विज्ञान के अनुसार एक मुखी इस प्रतिमा का आधा दायां भाग शिव व आधा बायां पार्वती का होना चाहिए। शिव भाग में चन्द्रमूषा सहित जटाजूट एवं पार्वती भाग में तिलक, मांग, तथा अलकें बनी हों, दायें भाग में सर्प यज्ञोपवीत सर्पमेखला, तथा अहर्वलिंग और हार का अंकन हो वाम भाग में गोल बड़ा, सघन स्तन तथा बज्र–वैदूर्य मणि की मेखला दायें हाथों पर कपाल व त्रिशूल एवं बायें (उमा) हाथों पर दर्पण तथा उत्पल (कमल) का अंकन हो, भारतवर्ष में अर्धनारीश्वर प्रतिमा कुषाण काल से प्राप्त होती है। इस प्रकार की प्रतिमायें राज्य संग्रहालय लखनऊ में संग्रहित है।6

हरिहर प्रतिमा

शिव ने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समय–समय पर तरह–तरह के रूप धारण किये। शिव का समन्वयवादी भारतीय प्रवृत्ति में महत्वपूर्ण योगदान है। अति प्राचीन काल में कई ऐसे सम्प्रदाय दिखाई देते हैं, जो अपने समाष्टि रूप में आज के कई शैव–सम्प्रदायों में प्रतिबिम्बित है। इन उद्देश्यों के अन्तर्गत हरिहर प्रतिमा प्रमुख है।

हरिहर प्रतिमा 'शिव एवं विष्णु' संयुक्त प्रतिमायें सृष्टि के उत्पादन की ओर संकेत करती हैं, शिल्पशास्त्रों के अनुसार हरिहर प्रतिमा में शिव एवं विष्णु का मिला–जुला स्वरूप प्रदर्शित हो, प्रतिमा के बायें भाग में विष्णु और दायें भाग पर शिव का अंकन हो, बायें भाग में विष्णु को किरिट मुकुट, चक्र, कुण्ड़ल, पीत–परिधानों, हाथों पर शंख, चक्र गदा में से किसी एक या दो आयुधों का अंकन हों, दायें भाग पर शिव को जटाजूट, कर्णकुण्ड़ल, सर्प, व्याघ्रछाल, शिव हाथों पर परशा, त्रिशुल, व अक्षमाला, हाथ वरद या अभय मुद्रा दर्शाया गया हो, प्रतिमा के बायें एवं बायें नीचे पार्श्वों पर गरुड़ व नन्दी का अंकन हो। प्रतिमा का निर्माण वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया है। वैष्णव पुराणों में स्थान–स्थान पर विष्णु एवं शिव की एकता का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में शिव स्वयं अपने श्रीमुख से वर्णन प्राप्त होता है कि वे हरि का ही अर्ध भाग हैं। और विष्णु से अलग उनका कोई व्यक्तित्व नहीं है। विष्णु एवं शिव के संयुक्त रूप का प्राचीनतम अंकन हुविष्क के सिक्कों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न अभिलेखकीय साक्ष्यों में भी संयुक्त पूजा के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है, मध्यकाल में हरिहर प्रतिमायें भारत में नही अपितु भारत के बहार कम्बोडिया, जावा, में भी निर्मित किया जाने लगा था,? जिससे यह स्पष्ट है कि शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों में परस्पर मेल के लिए किये जा रहे प्रयासों के फलस्वरूप हरिहर प्रतिमाओं का अंकन आरम्भ हुआ। राज्य संग्रहालय में हरिहर के प्रतिमायें संग्रहित है।7

दक्षिणामूर्ति

शिव महान योगी हैं। उनकी ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। उनका ज्ञान अनन्त है। शिव योग, ज्ञान एवं संगीत के परम ज्ञाता माने जाते हैं, जब योग, ज्ञान एवं संगीत विद्या का उपदेश देते हुवे को अंकित किया जाता है तब वे दक्षिणामूर्ति कहलाते हैं। व्याख्यान देते समय शिव का मुख दक्षिण की तरफ रहता है, जिस कारण उन्हें दक्षिण शिव अथवा दक्षिणामूर्ति शिव कहा जाता है। मंदिरों में

दक्षिणमूर्ति शिव को प्रायः दक्षिणी भित्ति पर ही प्रतिस्थापित किया जाता है। आचार्य के रूप में शिव का यह ध्यान दक्षिण में विशेष रूप में प्रचलित है, योग, ज्ञान, एवं व्याख्यान मुद्रावाले दक्षिणामूर्ति दक्षिण भारत में अधिक पाये जाते हैं। प्रतिमा विज्ञान में उक्त प्रतिमायें गुप्तकाल से प्राप्त होती हैं। परन्तु उत्तर भारत में उनकी संख्या बहुत कम हैं। फिर भी दक्षिणामूर्ति शिव के कुछ उदाहरण उत्तर भारत में उनकी संख्या बहुत कम हैं। फिर भी दक्षिणामूर्ति शिव के कुछ उदाहरण उत्तर भारत में प्राप्त हुवे हैं, जो उल्लेखनीय हैं।

9. रावणानुग्रह मूर्ति –

मध्यकाल में रावणानुग्रह मूर्तियों का प्रंसग बहुत अधिक लोकप्रिय रहा, परन्तु इन प्रतिमाओं का निर्माण गुप्त काल में आरम्भ हो चुका था। गर्व से उन्मत रावण ने एक बार शिव–पार्वती से युक्त समूचे कैलाश पर्वत को उखाड़ डालने का निश्चय किया, कैलाश–पर्वत हिलने से प्रेम–क्रीड़ा में मग्न उमा डरकर शिव से लिपट गयी, शिव सर्वज्ञ हैं। उन्होंने रावण के इस कार्य को समझ लिया, और अपने पैर के अंगूठे से कैलाश पर्वत को दबा दिया, जिससे रावण भी दबने लगा तब शिव से क्षमा याचना करने लगा शिव ने उसे क्षमा किया, यही आख्याना रावणानुग्रह कहलाता है। रावणानुग्रह शिव मूर्ति में आसन के नीचे रावण एवं आसन पर शिव व पार्वती का अंकन आवश्यक है। इस प्रकार की प्रतिमायें देश के कई भागों में पायी जाती है। राज्य संग्रहालय में भी रावणानुग्रह की प्रतिमा संग्रहित है।[8]

9. भिज्ञाटन मूर्ति

प्रस्तर कला में शिव को भिक्षाटन करने वाले स्वरूप में अंकन पाया जाता है। पद्मपुराण के अनुसार सहस्रों वर्षों तक चलने वाले ब्रहमा के यज्ञ में शिव भिक्षाटन के पहुँचे ब्रहमा ने जब 'हाँ' कह दिया तब शिव अपना कपालपात्र (भिक्षापात्र) वही रखकर स्नान करने हेतु चले गये। उनके जाने के बाद ब्रहमा ने अपवित्र कपाल को यज्ञमण्डल से हटाने का प्रयास किया, परन्तु एक कपाल उठाने पर वही दूसरा कपाल प्रकट होने लगा। इस प्रकार अनेक कपालों की सृष्टि की सृष्टि हुई और अन्त में ब्रहमा ने शिव को पुरोडाश का भाग देना स्वीकार किया, शिव की इस प्रकार की प्रतिमायों का विशेष विवरण आगमों में प्राप्त होता है। जो दक्षिण भारत की धारा से मेल खाता हैं। परन्तु भिक्षा मांगने वाले शिव का अंकन उत्तर भारत में भी प्राप्त होता है, इस प्रकार की सुन्दर प्रतिमा जो दरवाजे के आले में उत्कीण है। राज्य संग्रहालय में संग्रहीत हैं।[9]

10. गजासुर वध मूर्ति

पौराणिक कथाओं के अनुसार शिव ने गजासुर नामक दैत्य का वध किया था, तथा उसके चमड़े को स्वयं ओढ़ लिया था, प्रस्तर कला में इस कथा को अलग–अलग रुपों में अंकन प्राप्त होता हैं। दक्षिण भारत में इस प्रकार की प्रतिमायें प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। उत्तर भारत में इस प्रंसग में गजासुर संहार और अन्धकासुर संहार को एक साथ मिला दिया गया है। गजासुर वध के दृश्य में शिव के साथ गज एवं गज का शीश या गजचर्म होना आवश्यक है। कभी–कभी शिव स्वयं

गजचर्म धारण किये प्राप्त होते है। अंधकासुर वध वाली प्रतिमाओं में शिव अपने त्रिशूल से अन्धकासुर पर आक्रमण करते हुये पाये जाते हैं। 10वीं शती की गज-अन्धकासुर वध की प्रतिमा राज्य संग्रहालय में सग्रहित हैं।10

11. भैरव मूर्ति

भैरव शिव का अग्ररूप है, विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार भैरव का बड़ा पेट, गोल-गोल रक्तवर्ण के लाल आंखे बड़े-बड़े दाँतों वाला विकराल मुख, फूले हुए नथुने एवं कपाल माला और सर्प के आभूषणों से युक्त रौद्र रूप होना चाहिए। रूपमण्ड़न के अनुसार अष्टभुजी भैरव के हाथों पर चषक, खट्वांक, असि, पाश, शूल, डमरू कपाल, सर्प तथा वरदमुद्रा होनी चाहिए। उनके मस्तक में तीसरा नेत्र हो। भैरव की प्रतिमायें कुषाण काल से प्राप्त होने लगती हैं। पुराणों के अनुसार भैरव की मूर्तियां दो प्रकार की है, एक सौम्य मुख वली बटुक भैरव जो प्रायः उत्तर भारत में पायी जाती है, दूसरी रौद्र मुखवाली काल भैरव जिनको दक्षिण भारत में ज्यादा उकेरा गया हैं राज्य संग्रहालय में दोनों प्रकार की प्रतिमायें संग्रहित हैं।[11]

12. नृत्यरत शिव प्रतिमा

शिव का नटराज रूप भारतीय कला में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। शिव ज्ञान, योग, शास्त्रों के ज्ञाता होते हुये नृत्य के भी प्रवर्तक है। इसलिए उनको नटराज कहा गया है, विष्णु पुराण में उन्हें (नटराजनटराजेन राजितुम्) की विशेषण से विभूषित किया गया। शिव के नटराज रूप का वर्णन (मत्स्य पुराण) में भी हुआ है। कहा गया है, कि नृत्य शिव की प्रतिमा दस भुजा वाली होनी चाहिए नृत्य के समय शंख, चक्र, गदा, पिनाक धनुष, विष्णुमय शर ये वस्तुयें धारण करानी चाहिए। शिव के नृत्य दो प्रकार के है- लास्य एवं ताण्ड़व, लास्य नृत्य पार्वती को प्रसन्न करने के लिए शान्तमुद्रा में और ताण्डव नृत्य अपस्मार दैत्य के मर्दन के लिए कोपमुद्रा में किया जाता हैं शिव का ताण्डव नृत्य भारतीय कला में अधिक मात्रा में अंकन पाया जाता है। उनका नटराज स्वरूप उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में प्रचुर मात्रा में लोकप्रिय रहा हैं, भारतीय कला में नटराज की प्रतिमायें गुप्तकाल से प्राप्त हो जाती है। राज्य संग्रहालय लखनऊ में नटराज की मूर्तियां संग्रहित हैं।[12]

13. वीणाधर –

वीणा धारण किये हुये शिव को वीणा दक्षिणामूर्ति के नाम से जाना जाता है। भारत में इस प्रसंग के तीन रूप प्राप्त होते हैं, शिव वीणा धारण किये वृषभ एवं पार्वती के साथ खड़े, दूसरे में वीणा धारण किये नृत्यरत, तीसरे में वीणा धारण किये मातृकापट्ट के साथ पाये जाते हैं। तीसरे रूप में इनको वीरभ्रद के रूप में पहचाना जाता है। वीणाधर की प्रतिमायें गुप्त-से प्राप्त होने लगती हैं। राज्य संग्रहालय में वीणाधर की मूत्रियां संग्रहित हैं। 65-178

14. लकुलीश

महाभारत में वर्णित पाशुपत सम्प्रदाय लकुलीश से सम्बन्धित है। वायुपुराण में महेश्वर के लकुलीश नामक ब्रह्मचारी के रूप में अवतार की कल्पना की गई, लकुलीश का शाब्दिक अर्थ है, लकुट, लगुड़ या लकुट धारण करने वाला। शिव के इसी लकुलीश रूप की कल्पना कर उन्हें कला में स्थान दिया गया है। लकुलीश शिव पशुपति सम्प्रदाय के प्रमुख देव है। इस मंत्र की स्थापना लकुलीश नामक आचार्य ने की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तंभ लेख में इस पंथ की गुरु–शिष्य परंपरा का उल्लेख प्राप्त होता है, लकुलीश प्रतिमा के प्रमुख लक्षण है एक उनका दंड (लगुड़) और दूसरा ऊर्ध्वलिंग। इस प्रकार की प्रतिमा राज्य संग्रहालय में संग्रहित हैं। जे. 550

संदर्भ–सूची :

1. एच. 4
2. 56. 331
3. 75.13
4. 56.394
5. 52.82
6. एच.15
7. एच. 119
8. जी. 221
9. एच. 104
10. एच. 17
11. 66.45 व 135
12. 56.470
13. 65.178
14. जे. 550

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

प्रस्तर मूर्तियों का परिरक्षण

ज्ञान चन्द्र गौंड

भारत में मूर्तिपूजा जीवन का एक अंग माना गया है। वहाँ यह स्वाभाविक है कि पाषाण मूर्तियाँ और प्रतिमाएं बहुतायत में प्राप्त होती है। भारत के अधिकतर संग्रहालय पुरातात्विक है। इस प्रकार उत्तर प्रदेश में राज्य संग्रहालय व राजकीय संग्रहालय मथुरा व अन्य संग्रहालयों में शिल्प–वस्तुएं, प्रतिमायें अधिकांश संख्या में है।

जियोलॉजिकली दृष्टि से प्रस्तर तीन प्रकार के होते हैं।

1. आग्नेय
2. कायंतरी
3. अवसादी

आग्नेय चट्टानों– ज्वालामुखी लावा से ठण्डा होने से निर्मित चट्टान सबसे कठोर व स्थाई होती है।

कायंतरी चट्टाने – आग्नेय या अवसादी शैल के कायंतरण से अपना नवीन रूप दाब, उष्मा से प्राप्त होती है।

अवसादी – का निर्माण बालू और दूसरे जड़ पदार्थों से होता है। जिन्हें नदियों के तलहटी में जमा होकर काफी समय बाद ये पर्तें अश्मीभूत हो जाती है। और प्रस्तर का आकार ले लेती है। कभी–कभी पाषाण से निर्मित मूर्तियाँ अपने आप विघटित होने लगती है। उनकी अनेकानेक पर्त्तें अलग होने लगती है।

परिरक्षण के पूर्व

पाषाण की मूर्तियों को अधिक नुकसान उसमें उपस्थिति घुलनशील लवणों से होती है। लवण नमी को ग्रहण करते है। तथा वाष्पीकरण से लवण, लवण क्रिस्टलों में परिवर्तित हो जाते है। जो मूर्तियों की सतह पर सफेद क्रिस्टलों की पर्त बन जाती है। इस कारण उनकी सतह पाउडरी व कमजोर हो जाती है। फोटो–1
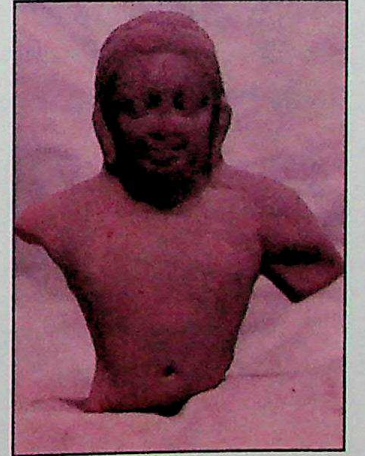
इस प्रकार पाषाण एक मजबूत और सुदृढ़ माध्यम हैं। पर इसका भी ह्रास होता है। अतैव इसकी भी देखभाल करने की आवश्यकता होती है।

रसायन सहायक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ

परिरक्षण के पश्चात्

प्रायः प्रस्तर मूर्तियों में मुख्यतः धूल और मिट्टी जमा हो जाती है। और धब्बे पड़ जाते है। इसको हटाने के लिए लिक्विड क्लीनिंग जिसमें आसक्ति पानी के साथ 1 से 2ः नॉन–आयनिक डिटरजेंट को मिक्स कर (शुद्ध) धीरे–धीरे सरकुलर मोशन में नॉयलॉन ब्रश का इस्तेमाल किया जाता है। फिर साधारण जल से साफ किया जाता है। चिकनाई के धब्बे, तेल की पर्ते, पेंट आदि के दाग प्रस्तर से हटाने के लिए कार्बनिक विलायकों व इनके मिश्रण का प्रयोग किया जाता है।

इसके पश्चात हार्ड घूल को हटाने के लिये इथनॉल और शुद्ध पानी व कुछ बूँद लिक्योर अमोनिया का प्रयोग किया जाता है।
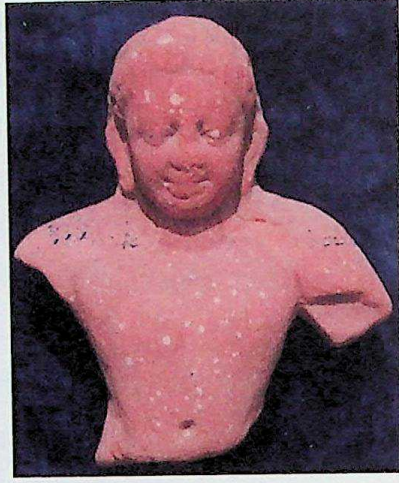
लवण से प्रभावित प्रस्तर के उपचार का तरीका–कागज–लुगदी प्रविधि है। इस प्रविधि में कागज–लुगदी को सारी रात पानी में भिगोकर रखा जाता है। इसके पश्चात् गीली लुगदी को प्रस्तर मूर्ती के ऊपर थोप कर सूखने के लिये छोड़ दिया जाता है। लुगदी को सुखने की प्रतिक्रिया में लुगदी प्रस्तर में व्याप्त लवण को खींचकर बाहर निकाल लेती है। सूखने के पश्चात् लुगदी को प्रस्तर से अलग कर देते हैं। इस प्रक्रिया को कई बार दोहराया जा सकता है।

यदि प्रस्तर मूर्ती की सतह कमजोर या पाउडरी हो जाती है। तो प्रयोगशाला विशेषज्ञों द्वारा विशेष स्थिति में सतहों को मजबूत करने के लिए रेजिन या अन्य विलयनों का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तर वस्तुऐं खुले स्थानों में रहने के कारण उन पर काई व शैवाल जो चकत्तेदार, हरा व काला रूप देकर आकृति को बंदरंग बना देती है। को हटाने के लिये प्रशिक्षित संरक्षक द्वारा रसायनों का प्रयोगकर लम्बे समय तक उपचार कर हटाया जाता हैं।

प्रस्तर मूर्तियों का रखरखाव तथा तथा भारी वजन के कारण स्थानान्तरण करना कठिन कार्य है। स्थानांतरण करते समय बाहों, टाँगों का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

भारी वस्तुओं को ट्राली से ले जाना व ले जाते समय झटका व आघात नहीं लगना चाहिये।

पाषाण वस्तुओं के भंडारण के समय रगड व टूटफूट का विशेष ध्यान देते हुयें उन्हें गद्दीदार पैड के ऊपर रखना चाहिये। व उन्हें पॉलिथीन या कपड़े की चादर से ढंक कर रखना चाहिये।

□□

TABLE OF TRANSLITERATION

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए
a	ā	i	ī	u	ū	e
ऐ	ओ	औ	अं	अः	ऋ	लृ
ai	o	au	ṁ	ḥ	ṛ	lṛ

क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
k	kh	g	gh	ṅ
च्	छ्	ज्	झ्	ञ
c	ch	j	jh	ñ
ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्
ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ
त्	थ्	द्	ध्	न्
t	th	d	dh	n
प्	फ्	ब्	भ्	म्
p	ph	b	bh	m
य्	र्	ल्	व्	श्
y	r	l	v	ś
ष्	स्	ह्	क्ष्	त्र्
ṣ	s	h	kṣ	tr
		ज्ञ		
		jñ		

सामान्य निर्देश

1. यह पत्रिका संग्रहालय एवं पुरातत्व से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर लिखे गए शोध–पत्रों का स्वागत करती है।
2. शोध–पत्र हिन्दी अथवा अंग्रेजी में लिखे जा सकते हैं।
3. शोध–पत्र ए4 आकार के कागज पर एक ही ओर दोहरे स्पेस में सुस्पष्ट टंकित होने चाहिए।

(क) अंग्रेजी में टंकित लेखों के लिए : फॉन्ट का नाम–एरियल, शोध–पत्र का शीर्षक–फॉन्ट साइज 14, लेखक का नाम व ईमेल–फान्ट

(ख) हिन्दी में टंकित लेखों के लिए : फॉन्ट का नाम–कृति देव 010 शोध–पत्र का शीर्षक–फान्ट साइज 16, लेखक का नाम व ईमेल–फान्ट साइज 13, टेक्स्ट–फान्ट साइज 14

4. यथासम्भव संक्षेप चिन्हों का प्रयोग न किया जाए। यदि ऐसा करना आवश्यक हो तो लेख के अन्त में संदर्भ के बाद उनकी सम्पूर्ण सूची दी जाए।
5. छायाचित्र (श्वेत–श्याम अथवा रंगीन) उत्तम कोटि के, कन्ट्रास्ट एवं 300 डी.पी.आई. के होने चाहिए।
6. छायाचित्र/रेखाचित्र के शीर्षक हल्की पेंसिल से उनके पीछे अंकित होने चाहिए।
7. चित्र/रेखाचित्र ड्राइंग शीट पर बने हों और उनके शीर्षक की एक सूची लेख के साथ अलग से संलग्न की जाए।
8. संदर्भों का विवरण लेख के अंत में अलग पृष्ठ पर संलग्न किया जाए।
9. आभार प्रदर्शन सम्बन्धी विवरण एक अलग पृष्ठ पर संदर्भों के पूर्व संलग्न किया जाए।
10. संस्कृति/हिन्दी शब्दों के डाइक्रिटिकल चिन्हों का प्रयोग यथास्थान किया जाए।
11. शोध–पत्र, छायाचित्र, रेखाचित्र आदि के चयन के विषय में सम्पादक का निर्णय अंतिम होगा।
12. लेख में उल्लिखित मतों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होंगे।
13. शोध–पत्र की पाण्डुलिपियां दो प्रतियों में 'माइक्रोसाफ्ट वर्ड' में सी.डी. सहित भेजी जाए।
14. शोध–पत्र वापस लौटाने हेतु उचित मूल्य के डाक टिकट लगा हुआ स्वयं का पता लिखा लिफाफा भेजा जाए।
15. पत्रिका सम्बन्धित समस्त पत्र व्यवहार, सम्पादक, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, राज्य संग्रहालय, बनारसीबाग, लखनऊ–226001 के पते पर किया जाये। फोन– 0522–2206157, 2206158

General Guidelines

1. The research paper related to the various fields of Museuology and Archaeology will be acceptable for this journal.
2. The article may be written in hindi or English.
3. All manuscripts should be typed in double space on one side of the A4 size paper.

(a) For the manuscripts in English : Font name - Arial Title of Article- font size14, Author's name and email address- font size11, Text-font size 12.

(b) For themanuscripts in Hindi : Font name - Kruti Dev010, Title of Article Title-font size 16, Author's name and email address-font size13, text-font size 14.

4. As far as possible abbreviation should not be used in case they have been corporated, a complete list of abhreviation used should invariably be given at the end of 'References'.
5. Photograpohs should be (black and white or coloured) on glossy paper in high contrast and300 DPI.
6. The caption of the photograph and line drawing whould be mentioned by a soft pencil of the backside of the same.
7. Drawing/line drawing should be on drawing sheet and list of such caption should be enclosed alongwith the article separately.
8. References should be given in the end of the article on a separate sheet.
9. Acknowledgement should be given on a separate sheet and enclosed with the article before References.
10. The diacritical marks should be used on Sanskrit/Hindi words.
11. In the selection of research paper, photograph/line drawing, the decision of the Editor will be final.
12. The Editor will not be responsible for the views expressed in the articles.
13. The manuscripts of the papers should be sent in two sets along with an electronic copy of the paper in Microsoft word on a C.D.
14. Self addressed envelope along with postel stamp of sufficient amount is requied to return back the research paper.
15. All correspondence should be addressed to : The Editor, Bulletin of Museums and Archaeology, State Museum, Banarsi Bagh, Lucknow-226001, Phone- 0522-2206157, 2206158

Museum Publications for Sale (Books)

Sl.	Books	Authors	Price
1.	Catalogue of SakaPahlava coins Northem India in the State Museum, Lucknow	Dr. A.K. Srivastava	16.00
2.	Supplementary Catalogue Mughal Coins in the State Museum, Lucknow	Sri C.R. Singhal	20.00
3.	Brahmanical Sculptures in the State Museum, Lucknow Part-2 Vol.1	Dr. N.P. Joshi	250.00
4.	Brahmanical Sculputres in the State Museum, Lucknow Part-2 Vol.II	Dr. N.P.Joshi	200.00
5.	Masterprieces in the State Museum, Lucknow	S.D. Trivedi	200.00
6.	उपदेवता : एक स्वतंत्र अध्ययन	डॉ. एन. पी. जोशी	60.00
7.	A Guide Book to the Archaeological Section in the State Museum, Lucknow	Dr. S.D. Trivedi	50.00
8.	Catalogue of Capper Plates in the State Museum Lucknow	V.N. Srivastava	80.00

Research Journal Bulletin of Museums & Archaeology (For Sale)

			Price Rs. P.
Nos. 26	Decorative Art Dec. 1980		6.00
Nos. 27-28	June-Dec. 1981 (Joint Issue)		10.00
Nos 29-30	June-Dec.1982 (Joint Issue)		10.00
Nos.31	June- 1983		6.00
Nos.32	Dec.1983		6.00
Nos. 33 - 34	June - Dec.1984 (Joint Issue)		10.00
Nos. 35-36	June-Dec. 1985 (Joint Issue)		10.00
Nos. 37	June 1986		6.00
Nos. 38	June 1987		6.00
Nos. 39	June 1987		6.00
Nos. 40	Dec 1987		6.00
Nos. 41 - 42	June-Dec. 1988 (Joint Issue)	(Paper back)	20.00
Nos. 41-42	June-Dec. 1988 (Joint Issue)	(Special Issue)	100.00
Nos. 43-44	June-Dec. 1989 (Joint Issue)	(Paper back)	20.00
Nos. 45-46	June-Dec. 1990 (Joint Issue)		10.00
Nos. 47-48	June-Dec. 1991 (Joint Issue)	(Special issue)	150.00
Nos. 49-50	June-Dec. 1992 (Joint Issue)		100.00
Nos. 51-52	June-Dec. 1993 (Joint Issue)		110.00
Nos. 53-54	June-Dec. 1994 (Joint Issue)		160.00
Nos. 55-56	June-Dec. 1995 (Joint Issue)		160.00
Nos. 57-58	June-Dec. 1996 (Joint Issue)		100.00
New Series-1	Year- 2013		120.00
New Series-2	Year-2014		275.00

Note : Prices are liable to change. Postage extra. Attractive terms of Booksellers. Contact the Director, State Museum, Lucknow- 226 001, Ph. : 0522-2206157, 2206158